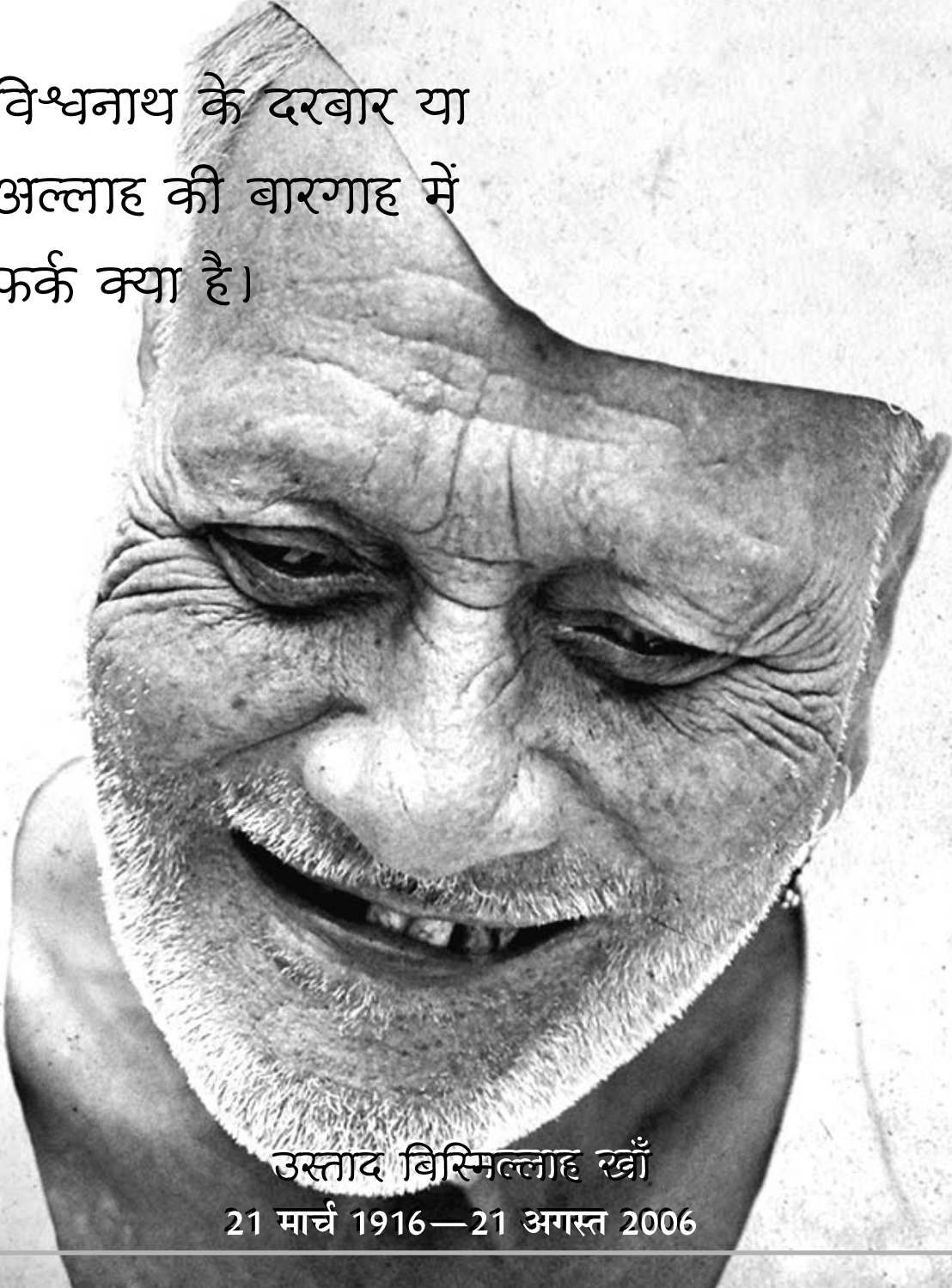


समरथ

जनवरी-मार्च 2017 ♦ नई दिल्ली



विश्वनाथ के दरबार या
अल्लाह की बारगाह में
फर्क क्या है।



उस्ताद बिस्मिल्लाह ख़ाँ
21 मार्च 1916—21 अगस्त 2006

नाहि तो जन्म नसाई

आज दुनिया के बहुत से देशों में राजनैतिक, सामाजिक और वैचारिक स्तर पर जैसी उथल-पुथल, अराजकता और अशांति नज़र आ रही है वो दूसरे विश्वयुद्ध के दिनों की याद दिलाती है। प्रवासियों की धरती कहे जाने वाले देश अमेरिका में विदेशी मूल के नागरिकों के खिलाफ़ नफ़रत और असहिष्णुता बढ़ रही है, राष्ट्रवाद एक आक्रामक रूप धारण कर रहा है और देश की बागडोर एक ऐसे राजनेता के हाथों में आ गई है जिसमें पिछली शताब्दी के तानाशाहों की छवि नज़र आती है। उसे न केवल जनमत प्राप्त है वरन उसे उस वर्ग का भी सहयोग मिल रहा है जो पारंपरिक तौर पर इस प्रकार की विचारधारा में विश्वास नहीं करता था।

यूरोप का हाल भी इससे भिन्न नहीं है। धार्मिक असहिष्णुता, नस्लवाद और रंगभेद की हिंसक घटनाएं आम हो रही हैं। प्रवासियों और शरणार्थियों के विरुद्ध घृणा का तमाशा हम रोज देखते हैं। ब्लादिमीर पुतिन और तैय्यब अरदोगान जैसे नेताओं की बढ़ती हुई शक्ति और लोकप्रियता, सत्ता पर उनकी मजबूत पकड़, विपक्ष का लगभग सफाया, इसका खुला संकेत है कि शासन व्यवस्था और राजनीति अब धीरे-धीरे नेता केंद्रित बनती जा रही है और लोकतंत्र को स्वयं अपने पालने में संकट का सामना है।

अपने देश का दृश्य पटल भी इससे जुदा नहीं है। मुल्क की सबसे बड़ी पार्टी इतिहास का हिस्सा बनती जा रही है। गरीबों और मेहनतकशों का दम भरने वाले दलों की गतिविधियाँ संगोष्ठियों, सेमिनारों और छोटे-मोटे धरना-प्रदर्शनों तक सीमित होने लगी हैं। सामाजिक न्याय का नारा लगाने वाले दल भी जाति-पाति की राजनीति से ऊपर नहीं उठ सके हैं। इन सबसे पैदा हुए राजनीतिक शून्य का लाभ उठाकर एक विशेष विचारधारा पर आधारित पार्टी ने अपनी जड़ें मजबूत कर ली हैं और एक के बाद एक किले फतेह करती जा रही है। जो बात काबिल-ए-गौर और चिंताजनक है वो यह कि देश में लोकतंत्र के माध्यम से एक ऐसे 'निरंकुशवाद' के लिए राह हमवार हो रही है जिसमें एक व्यक्ति विशाल जनादेश के बल पर बेहद शक्तिशाली हो जाता है, जिसे रोकने वाला कोई नहीं होता। आज देश में विपक्ष पूरी तरह बिखर चुका है। 'चेक और बैलेंस' की व्यवस्था जिससे लोकतंत्र को शक्ति मिलती है पूरी तरह क्षीण हो चुकी है। अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता पर निरंतर हमले हो रहे हैं। प्रश्न पूछने वाले संस्थान खतरे में हैं और तर्क-वितर्क, संदेह और आलोचना की परंपरा पामाल हो रही है।

राजनीतिक परिवर्तन के इस दौर में अगर उम्मीद की कोई किरण है तो वो एक ऐसी नई पीढ़ी का उभरना है जो नई टेक्नोलॉजी की देन है, जिसने बड़ी क्रांति को जन्म दिया है। सूचना प्रौद्योगिकी, सोशल मीडिया, मोबाइल और इंटरनेट ने ज्ञान और सूचना पर एक विशेष वर्ग के वर्चस्व का लगभग अंत कर दिया है। अगरचे यह बात अपनी जगह दुरुस्त है कि मुल्क में गरीबी और अमीरी के बीच की खाई बढ़ी है, मगर यह भी सच है कि गरीब तबके के हालात कुछ बेहतर अवश्य हुए हैं और यह नई पीढ़ी इसी वर्ग से उभरी है और विश्वविद्यालयों, उच्च शैक्षणिक संस्थानों, फिल्म, टेलीविजन, संगीत आदि जीवन के हर क्षेत्र में अपनी जगह बना रही है। यह नई पीढ़ी तब्दीली की इच्छुक है और संभवतः इसी की आकांक्षाओं और आरजुओं ने आज के सियासी बदलाव में भी अहम रोल अदा किया है लेकिन यह भी सच है कि यह नई पीढ़ी किसी विचारधारा के पीछे आँख बंद करके चलने वाली नहीं और न ही राजनीतिक पाटियों या नेताओं को अपने भविष्य का फैसला करने की आजादी देगी। यह अपने भविष्य का निर्माण स्वयं करेगी और अब जिस 'नए भारत' का उदय होगा वो किसी विशेष विचारधारा के सपनों का नहीं बल्कि इसी नई पीढ़ी की तमन्नाओं ओर आकांक्षाओं का प्रतिबिंब होगा।

इन्तेज़ार

ज़ख्म खिलेंगे धीरे-धीरे

होंट खुलेंगे धीरे-धीरे

सुबह उगेगी धीरे-धीरे

रात ढलेगी धीरे-धीरे

ऋतु बदलेगी धीरे-धीरे

जुल्म मरेगा धीरे-धीरे

खून जमेगा धीरे-धीरे

हाथ उठेंगे धीरे-धीरे

शोले जगेंगे धीरे-धीरे

मेंह गिरेगा धीरे-धीरे

गम भी धुलेंगे धीरे-धीरे

—खुशींद अनवर

क्यों नदी जोड़ परियोजना देश की कमर भी तोड़ सकती है

■ विकास बहुगुणा

केन-बेतवा लिंक को पर्यावरण मंत्रालय की विशेषज्ञ समिति की मंजूरी के साथ महत्वाकांक्षी नदी जोड़ परियोजना धरातल पर उतरने के करीब पहुंच गई है।

महत्वाकांक्षी नदी जोड़ परियोजना धरातल पर उतरने को है। केन-बेतवा लिंक पर काम साल की इसी तिमाही में शुरू हो सकता है। केंद्रीय जल संसाधन मंत्री उमा भारती ने कहा कि इसे सभी मंजूरीयां मिल गई हैं। राष्ट्रीय वन्यजीव बोर्ड, जनजातीय मामलों के मंत्रालय और पर्यावरण मंत्रालय की विशेषज्ञ मूल्यांकन समिति (ईएसी) ने इसे अपनी मंजूरी दे दी है। यानी पर्यावरण मंत्रालय द्वारा इसे मंजूरी मिलने का रास्ता साफ हो गया है जो ईएसी की सिफारिश के हिसाब से ही चलता है। लगभग 10 हजार करोड़ रु की लागत से बनने वाले केन-बेतवा लिंक में उत्तर प्रदेश और मध्य प्रदेश के हिस्से शामिल हैं।

केन-बेतवा लिंक परियोजना के तहत मध्य प्रदेश से केन नदी के अतिरिक्त पानी को 231 किमी लंबी एक नहर के जरिये उत्तर प्रदेश में बेतवा नदी तक लाया जाएगा। माना जा रहा है कि इससे अक्सर सूखे से जूझने वाले बुंदेलखंड की एक लाख 27 हजार हेक्टेयर जमीन की सिंचाई हो सकेगी।

नदी जोड़ परियोजना के तहत पूरे भारत में ऐसे कुल 30 लिंक बनने हैं। इनमें साढ़े पांच लाख करोड़ रु के खर्च का अनुमान लगाया जा रहा है। उमा भारती का मानना है कि अगर राज्यों ने ठीक से सहयोग किया तो तेजी से काम करते हुए अगले सात से दस साल के भीतर यह परियोजना पूरी की जा सकती है। दावा किया जा रहा है कि इससे कई इलाकों में सूखे और बाढ़ की समस्या से निजात

मिलेगी। इसके अलावा इस परियोजना से विशाल मात्रा में बिजली उत्पादन की बात भी कही जा रही है जिससे देश की आर्थिक प्रगति का मार्ग और चौड़ा होगा।

इतिहास

भारत की सारी बड़ी नदियों को आपस में जोड़ने का प्रस्ताव पहली बार ब्रिटिश राज के चर्चित इंजीनियर सर आर्थर कॉटन ने 1858 में दिया था। सोच यह थी कि नहरों के विशाल जाल के जरिये नदियां आपस में जुड़ जाएंगी तो न सिर्फ ब्रिटिश साम्राज्य के इस उपनिवेश में आयात-निर्यात का काम तेज और आसान होगा बल्कि एक ही वक्त पर कहीं सूखे और कहीं बाढ़ की समस्या से निपटा जा सकेगा। कॉटन इससे पहले कावेरी, कृष्णा और गोदावरी पर कई बांध और बड़ी सिंचाई परियोजनाएं बना चुके थे। लेकिन तब के संसाधनों के बूते से बाहर होने के चलते यह योजना आगे नहीं बढ़ सकी।

नदी जोड़ परियोजना आजादी के बाद तब फिर सुर्खियों में आई जब 1970 में तत्कालीन सिंचाई मंत्री केएल राव ने एक राष्ट्रीय जल ग्रिड बनाने का प्रस्ताव दिया। राव का कहना था कि गंगा और ब्रह्मपुत्र जैसी नदियों की घाटी में ज्यादा पानी रहता है जबकि मध्य और दक्षिण भारत के इलाकों में पानी की कमी रहती है। उनकी सोच यह थी कि उत्तर भारत का अतिरिक्त पानी मध्य और दक्षिण भारत तक पहुंचाया जाए। राव की गंगा कावेरी नहर योजना की सबसे ज्यादा चर्चा हुई थी। इसके तहत ढाई हजार किलोमीटर से ज्यादा लंबी नहर के जरिये गंगा के करीब 50 हजार क्यूसेक

पानी को करीब साढ़े पांच सौ मीटर ऊंचा उठाकर दक्षिण भारत की तरफ ले जाया जाना था। लेकिन केंद्रीय जल आयोग ने इस योजना को आर्थिक और तकनीकी रूप से अव्यावहारिक बताते हुए खारिज कर दिया।

इसके बाद नदी जोड़ परियोजना की चर्चा 1980 में हुई। इस साल भारत के जल संसाधन मंत्रालय ने एक रिपोर्ट तैयार की थी। नेशनल परस्पेक्टिव फॉर वाटर रिसोर्सेज डेवलपमेंट नामक इस रिपोर्ट में नदी जोड़ परियोजना को दो हिस्सों में बांटा गया था—हिमालयी इलाका और प्रायद्वीप यानी दक्षिण भारत का क्षेत्र। 1982 में इस मुद्दे पर नेशनल वाटर डेवलपमेंट एजेंसी के रूप में विशेषज्ञों की एक संस्था बनाई गई। इसका काम यह अध्ययन करना था कि प्रायद्वीप की नदियों और दूसरे जल संसाधनों को जोड़ने का काम कितना व्यावहारिक है। इस संस्था ने कई रिपोर्टें दीं। लेकिन बात वहीं की वहीं अटकी रही।

केंद्र में भाजपानीत एनडीए सरकार आने के बाद नदी जोड़ परियोजना की फाइलों पर चढ़ी धूल फिर झाड़ी गई। 2002 में देश में भयानक सूखा पड़ा था। इसके बाद तत्कालीन प्रधानमंत्री अटल बिहारी वाजपेयी ने नदियों को आपस में जोड़ने के काम की व्यावहारिकता परखने के लिए एक कार्य दल का गठन किया। इसने उसी साल अपनी रिपोर्ट सौंप दी थी। इसमें भी परियोजना को दो भागों में बांटने की सिफारिश की गई। पहले हिस्से में दक्षिण भारतीय नदियां शामिल थीं जिन्हें जोड़कर 16 कड़ियों की एक ग्रिड बनाई जानी थी। हिमालयी हिस्से के तहत गंगा, ब्रह्मपुत्र और इनकी सहायक नदियों के पानी को इकट्ठा करने की योजना बनाई गई जिसका इस्तेमाल सिंचाई और बिजली परियोजनाओं के लिए होना था। लेकिन फिर 2004 में कांग्रेसनीत यूपीए की सरकार आ गई और मामला फिर ठंडे बस्ते में चला गया।

इसके बाद यह परियोजना 2012 में सुर्खियों में आई। इस साल सुप्रीम कोर्ट ने केंद्र सरकार को निर्देश दिया कि वह इस महत्वाकांक्षी परियोजना पर समयबद्ध तरीके से अमल करे ताकि देरी की वजह से इसकी लागत और न बढ़े। अदालत ने इसकी योजना तैयार करने और इस पर अमल करने के लिए एक उच्च स्तरीय समिति भी बनाई थी। अब केन-बेतवा लिंक के साथ आखिरकार नदी जोड़ परियोजना जमीन पर उतरने वाली है।

अपने-अपने तर्क

नदी जोड़ परियोजना के सम्मोहन की अपनी वजहें हैं तो बार-बार इससे पीछे हटने के भी अपने कारण हैं। परियोजना के

पैरोकार इसके पक्ष में कई तर्क देते हैं। उनका कहना है कि इससे देश में सूखे की समस्या का स्थायी हल निकल जाएगा। दलील यह भी है कि नदियों को जोड़ने वाले कुल 30 लिंक बनने के बाद 15 करोड़ हेक्टेयर जमीन पर सिंचाई हो सकेगी। यह भी कहा जा रहा है कि नदियां जोड़ने के बाद गंगा और ब्रह्मपुत्र के इलाके में हर साल बाढ़ की समस्या से भी निजात मिलेगी क्योंकि अतिरिक्त पानी को इस्तेमाल करने की एक व्यवस्था मौजूद होगी। परियोजना की वकालत कर रहे लोग यह तर्क भी देते हैं कि इससे 34 हजार मेगावॉट बिजली बनेगी जो देश की ऊर्जा जरूरतों को देखते हुए बहुत अहम है।

लेकिन नदियों को जोड़ने का विरोध करने वालों के पास इतने ही या इससे भी कहीं मजबूत तर्क हैं। सामाजिक कार्यकर्ताओं का कहना है कि इतने व्यापक स्तर पर प्रकृति से खिलवाड़ के नतीजे बहुत भयानक होंगे। उनके मुताबिक अगर नदियों की भूगर्भीय स्थिति, उनमें गाद आने की मात्रा, देश में ही दूसरी बड़ी नहर परियोजनाओं के अनुभवों और विदेशों में ऐसी परियोजनाओं के हथ्र पर ठीक से गौर किया जाए तो नदी जोड़ परियोजना बहुत विनाशकारी साबित होने वाली है।

कई विशेषज्ञ मानते हैं कि इस परियोजना में सबसे बड़ी अड़चन कुदरत ही है। नदियों का एक स्वाभाविक ढाल होता है जिसे वे अपने आप पकड़ती हैं और इसके इर्दगिर्द के इलाके को खुशहाल बनाते हुए आगे बढ़ती हैं। देश में ही ऐसे कई उदाहरण हैं जो बताते हैं कि जब नदियों के पानी की दिशा नहरों के जरिये मोड़ी गई तो उन्होंने आसपास की जमीन को खारा और दलदली बनाते हुए इसका बदला ले लिया। उत्तर प्रदेश के 16 जिलों से होकर गुजरने वाली शारदा सहायक नहर को ही लीजिए जो देश की प्रमुख नहरों में से एक है। 2000 में पूरी हुई 260 किमी लंबी इस नहर का लक्ष्य 16.77 लाख हेक्टेयर जमीन की सिंचाई करना था। लेकिन यह सिर्फ 48 फीसदी लक्ष्य हासिल कर पाई है यानी आधे से भी कम। ऊपर से इससे रिसता पानी अक्सर हजारों हेक्टेयर जमीन में जलजमाव और सीलन की वजह बन रहा है जिससे कम पानी वाली गेहूं और दलहन जैसी फसलें बर्बाद हो रही हैं।

यही नहीं, शारदा सहायक नहर में तेजी से भरने वाली गाद न सिर्फ नहर की पानी ले जाने की क्षमता में कम कर रही है बल्कि खेती की जमीन को बंजर भी बना रही है। यह नहर रायबरेली से भी गुजरती है जो कांग्रेस अध्यक्ष सोनिया गांधी का संसदीय क्षेत्र है। नहर के बारे में बढ़ रही शिकायतों के बाद कुछ

4 • समरथ

जनवरी-मार्च 2017

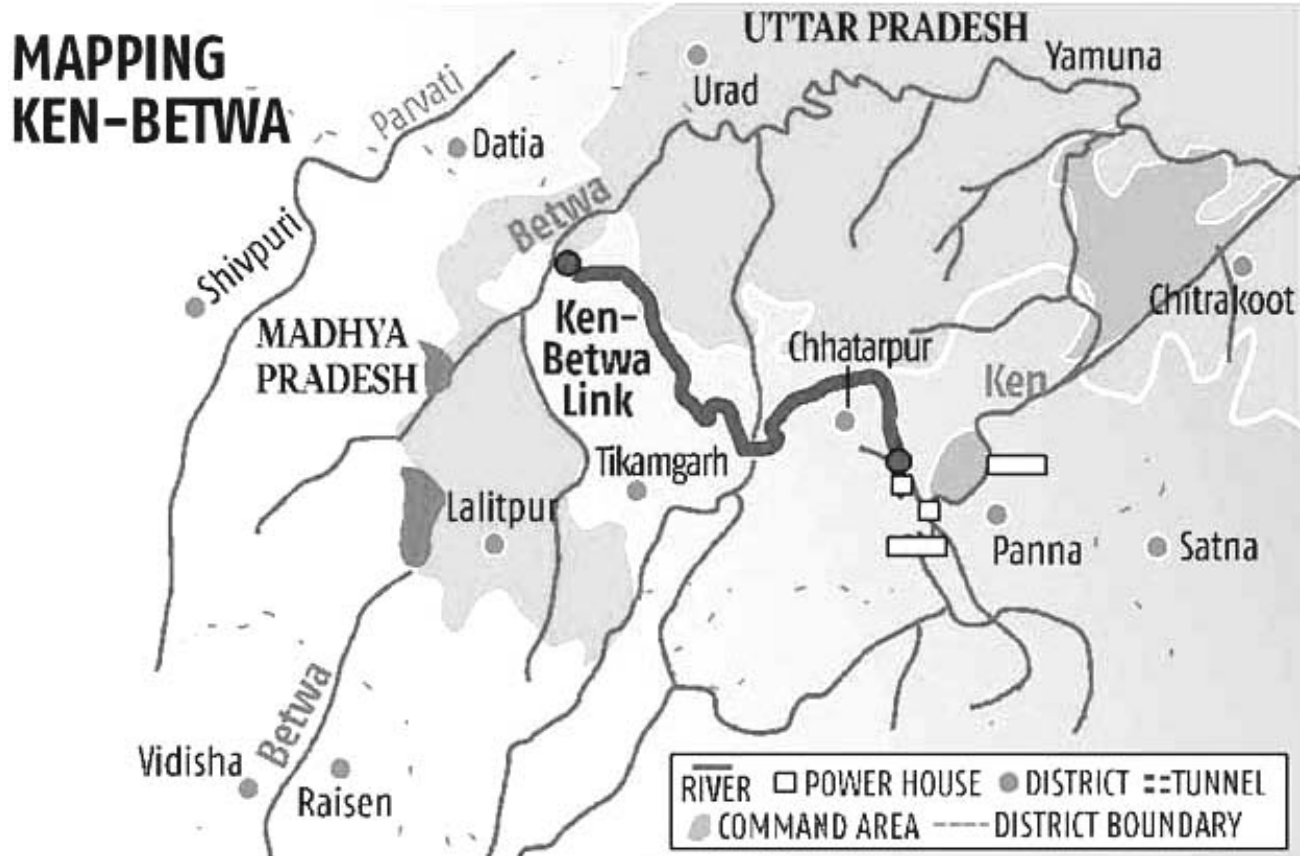
साल पहले केंद्र सरकार ने नहर की सफाई और गाद निकालने के लिए 319 करोड़ रुपयों का विशेष पैकेज दिया था।

कई जानकार मानते हैं कि इस गाद से बड़ी समस्या वह गाद है जो नीति-नियंताओं की अक्ल पर पड़ी है। अब खत्म हो चुके योजना आयोग ने कुछ साल पहले शारदा सहायक नहर की समीक्षा करते हुए अपनी रिपोर्ट में कहा था कि इस नहर के इलाके में आने वाले किसानों की तुलना में इससे बाहर रहने वाले लोगों की संपत्ति में ज्यादा बढ़ोतरी हुई है। साफ है कि इस नहर से जितना फायदा हुआ, उससे ज्यादा नुकसान हुआ।

दूसरा पहलू अलग-अलग राज्यों के बीच पानी को लेकर चल रहे टकरावों का है। सतलुज-यमुना लिंक नहर का मुद्दा कई दशकों से अदालती पेंच में उलझा हुआ है। 1981 में पंजाब, हरियाणा, दिल्ली और राजस्थान के बीच पानी के बंटवारे का एक समझौता हुआ था। इसके तहत पंजाब को सतलुज का पानी बाकी राज्यों के साथ बांटना था। लेकिन बाद में वह इस समझौते से मुक्त गया। उसका तर्क था कि

सतलुज सिर्फ उसके इलाके से होकर बहती है तो वह इसका पानी दूसरे राज्यों के साथ क्यों बांटे। यही नहीं, कुछ समय पहले उसने वह जमीन भी किसानों को वापस कर दी जो इस परियोजना के लिए नहर बनाने के मकसद से अधिग्रहीत की गई थी। इस पर वहां अकाली दल और कांग्रेस, दोनों एक राय हैं। इसी तरह कर्नाटक और तमिलनाडु के बीच ब्रिटिश राज के जमाने से ही कावेरी जल विवाद चला आ रहा है। नदी जोड़ परियोजना में 30 से ज्यादा नदियों को जोड़ने की बात है। ऐसे में इसका क्या नतीजा होगा, सहज अनुमान लगाया जा सकता है। खबरें आ ही रही हैं कि उड़ीसा इस परियोजना में जरा भी दिलचस्पी नहीं दिखा रहा।

बात सिर्फ राज्यों की ही नहीं है। 1996 में गंगा के पानी को लेकर भारत और बांग्लादेश में एक समझौता हुआ था। इसमें भारत ने बांग्लादेश से वादा किया था कि वह पश्चिम बंगाल में भारत-बांग्लादेश सीमा के पास स्थित फरक्का बैराज से पहले किसी भी इलाके में गंगा के पानी को दूसरी दिशा में नहीं मोड़ेगा।



जानकारों के मुताबिक ऐसे में यह परियोजना पटरी पर आ रहे भारत-बांग्लादेश संबंधों में फिर तनाव की वजह बन सकती है।

इस मुद्दे का एक और अहम पहलू इस परियोजना के लिए जमीनों के अधिग्रहण का है। इस समय देश का शायद ही कोई इलाका होगा जहां अलग-अलग परियोजनाओं के लिए भूमि अधिग्रहण के खिलाफ तीखे आंदोलन न चल रहे हों। नदी जोड़ परियोजना के लिए किसी भी दूसरी परियोजना की तुलना में कहीं ज्यादा जमीन चाहिए होगी। ऐसे में जानकार मान रहे हैं कि देश के कई हिस्सों में कानून-व्यवस्था बनाए रखने की गंभीर चुनौती खड़ी होगी जिससे इतने बड़े स्तर पर निपटना सरकार के लिए टेढ़ी खीर हो जाएगा।

कुछ समय पहले एक साक्षात्कार में नर्मदा बचाओ आंदोलन की अगुवाई कर रहीं मेधा पाटकर इस परियोजना को पूरी तरह अव्यावहारिक बताया था। उनके मुताबिक इसके सामाजिक, आर्थिक और पर्यावरण पर पड़ने वाले परिणाम बहुत बुरे और बड़े होंगे। उनका कहना था, 'सरकार का यह दावा कि इससे बाढ़ की समस्या से निजात मिलेगी, गलत है। गंगा के पानी का सिर्फ 20 फीसदी हिस्सा मोड़ने की बात है। इससे बाढ़ कैसे रुक पाएगी? इस दावे का कोई वैज्ञानिक आधार नहीं है।' पाटकर को यह भी डर है कि इस योजना से नदियों का निजीकरण हो सकता है। इस परियोजना में साढ़े पांच लाख करोड़ रुपये खर्च होने की बात कही जा रही है। पाटकर के मुताबिक इतनी विशाल लागत सिर्फ सरकार वहन नहीं कर सकती। इसके लिए कॉर्पोरेट जगत के निवेश की भी जरूरत होगी।

नदी जोड़ के नतीजों को देखते हुए दुनिया के कई देश इससे तौबा कर चुके हैं। अमेरिका में कोलैराडो से लेकर मिसीसिपी नदी घाटी तक बड़ी संख्या में बनी ऐसी परियोजनाएं गाद भर जाने के कारण बाढ़ का प्रकोप बढ़ाने लगीं और उनसे बिजली का उत्पादन भी धीरे-धीरे गिरता गया। आखिर में इन परियोजनाओं के लिए बने बांध तोड़ने पड़े। इस पर जो खर्च हुआ सो अलग। विशेषज्ञ बताते हैं कि गंगा या ब्रह्मपुत्र में हर साल आने वाली गाद की मात्रा मिसीसिपी नदी से दोगुनी है। सोवियत संघ के जमाने में साइबेरियाई नदियों को नहरों के जाल के जरिये कजाकिस्तान और मध्य एशिया की कम पानी वाली नदियों की ओर मोड़ने का काम हुआ। योजना का मुख्य हिस्सा 2200 किलोमीटर लंबी एक नहर थी। दावे किए गए कि इससे अनाज का उत्पादन बढ़ जाएगा। लेकिन इसका हाल शारदा सहायक नहर जैसा ही हुआ। जहां-जहां भी नहर पहुंची वहां-वहां दलदली जमीन और खारे पानी ने

किसानों की कमर तोड़ दी। 80 के दशक में इस योजना को छोड़ दिया गया।

सवाल उठता है कि फिर समाधान क्या है। जानकार मानते हैं कि भारत भू-सांस्कृतिक विविधता वाला देश है जहां हर इलाके में सिंचाई और पीने के लिए पानी का प्रबंधन अलग-अलग तरीकों से होता रहा है। ऐसे में सब पर एक समाधान थोपना ठीक नहीं। जानकारों के मुताबिक जब जल संरक्षण के छोटे-छोटे स्थानीय प्रयासों से देश के कम बारिश वाले इलाकों में भी नदियों को पुनर्जीवित करने के सफल उदाहरण मौजूद हैं तो फिर ऐसे इलाकों में दूसरे इलाके की नदियों को खींचकर लाने के ऐसे जटिल और विनाशकारी काम की क्या जरूरत है, जिसमें बहुत पैसा खर्च होगा और जिससे बड़े स्तर पर भौगोलिक बिगाड़ भी होगा।

जल संरक्षण पर अपने काम के लिए चर्चित राजेंद्र सिंह एक साक्षात्कार में कहते हैं, 'नदियों को जोड़ने के बजाय सरकार को इस पर ध्यान लगाना चाहिए कि लोगों के दिल और दिमाग को नदियों के साथ जोड़ा जाए ताकि नदियों को फिर से जिंदा किया जा सके। नदियों को जोड़ने से सूखा खत्म नहीं होगा। सूखा तब खत्म होगा जब समाज खुद को पानी के साथ जोड़ेगा।' पर्यावरण संबंधी मुद्दों को लेकर लगातार आवाज उठाने वाले हिमांशु ठक्कर भी कुछ ऐसा ही मानते हैं। एक अखबार से बात करते हुए वे कहते हैं, 'ऐसी परियोजना का क्या करना जिससे जंगलों का नाश हो, लोगों का विस्थापन हो और जलवायु परिवर्तन के बुरे असर में और तेजी आए।'

चर्चित पर्यावरणविद् अनुपम मिश्र ने कुछ समय पहले एक साक्षात्कार में कहा था, 'नदी जोड़ने का काम प्रकृति का है। जहां दो नदियां जुड़ती हैं वह जगह तीर्थस्थल बन जाती है। अब दो नदियों को नहर से जोड़ने की कोशिश की जाएगी। इससे किसानों को तो नहीं पर नेताओं और बाबूओं को जरूर लाभ होगा।' मिश्र का मानना था कि देश में पानी की समस्या का हल वास्तव में सही तरीके से जल का प्रबंधन है और जितनी राशि नदियों को जोड़ने में खर्च की जानी है उससे कहीं कम अगर बारिश का पानी रोकने और नदियों और तालाबों को बचाने में खर्च की जाए तो समस्या हल हो जाएगी। हिमांशु ठक्कर भी कहते हैं, 'पानी सहेजने और जल प्रबंधन के कम लागत वाले तरीके मौजूद हैं, लेकिन सरकार उन्हें आजमाना ही नहीं चाहती।'

साभार : <https://satyagrah.scroll.in>

6 • समरथ

जनवरी-मार्च 2017

अवध की लाजवाब गंगा-जमुनी होली

दर-ओ-हरम में हो न जंग, होली खेलो हमरे संग!

■ हिमांशु वाजपेयी

अवध के नवाब सादत अली खां हों या संगीत-नृत्य पर जान न्योछावर करने वाले आखिरी नवाब वाजिद अली शाह, सभी होली खेलने में मस्त हो जाया करते थे। कोई सिर पर मोर मुकुट लगा कर कन्हैया बन, हाथ में पिचकारी ले गोपियों पर रंग डालते थे तो कोई खुद गोपी बन नृत्य किया करते थे। शायरों ने होलियों की मस्ती और छेड़छाड़ पर खूबसूरत कलाम लिखे। नवाबों के जमाने से चली आई होली की गंगा-जमुनी तहजीब का नजारा आज भी पुराने लखनऊ में देखा जा सकता है। — सम्पादक।



जो लोग यह मानते हैं कि होली सिर्फ हिंदुओं का त्योहार है, वे होली के दिन पुराने लखनऊ के किसी भी मोहल्ले में जाकर देख लें। पहचानना मुश्किल हो जाएगा कि रंग में डूबा कौन-सा चेहरा हिंदू है और कौन-सा मुसलमान। शहर के दिल चौक की मशहूर 'होली की बारात' आजादी के जमाने से हिंदू-मुस्लिम मिलकर निकालते हैं। लखनऊ की साड़ी होली की पहचान बन चुकी ये बारात चौक, विक्टोरिया स्ट्रीट, अकबरी गेट और राजा बाजार जैसे मुस्लिम बहुल इलाकों से होकर ही निकलती है। इसमें मुसलमान न सिर्फ रंग खेलते, नाचते-गाते आगे बढ़ते हैं, बल्कि मुस्लिम घरों की छतों से रंग-गुलाल और फूलों की बरसात भी होती है। ये सिर्फ

एक-दो साल की खुशफहमी नहीं है। इस तरह की मिली-जुली होली लखनऊ पिछले सैकड़ों सालों से मनाता आ रहा है।

लखनऊ का ये सद्भाव असल में यहाँ के नवाबों की देन है। नवाबों के खानदान से ताल्लुक रखने वाले जाफर मीर अब्दुल्ला कहते हैं, “लखनऊ में मुसलमान होली तो मनाते ही हैं साथ ही होली का प्रभाव उनके अपने त्योहारों पर भी साफ दिखता है। ईरानी नव वर्ष ‘नौरोज’ जो कि होली के ही आस-पास हर साल 21 मार्च को पड़ता है, यूं तो पूरे देश में और देश के बाहर भी मनाया जाता है लेकिन सिर्फ लखनऊ में नौरोज के दिन होली की तर्ज पर रंग खेला जाता है। नवाबीन-ए-अवध खुद जोरदार होली खेलते थे। दरअसल वे चाहते थे कि लखनऊ में कोई भी बड़ा त्योहार किसी एक फिरके का त्योहार बन कर न रह जाए।” नवाबों के वक्त में इस शहर में मोहरम और होली के त्योहार हिंदू-मुस्लिम मिलकर मनाते थे। इस बात की गवाही लखनऊ की उर्दू शायरी भी देती है। जहाँ प्यारे साहब रशीद, नानक चंद नानक, छन्नू लाल दिलगीर, कृष्ण बिहारी नूर जैसे हिंदू शायरों के लिखे मर्सिये आज भी मोहरम की मजलिसों की जान हैं वहीं लखनऊ के मुस्लिम शायरों ने भी लखनऊ की होली का बयान अपनी शायरी में खूब किया है।

खुदा-ए-सुखन मीर तकी ‘मीर’ की लखनऊ से बेज़ारी के चर्चे सबने सुन रखे हैं, लेकिन इस शहर की होली के वे भी दीवाने थे। मीर जब दिल्ली से लखनऊ आए और उन्होंने तब के नवाब आसफुद्दौला को रंगों में शराबोर होली खेलते देखा तो उनकी तबीयत भी रंगीन हो गई, और उन्होंने पूरी मस्त्रवी नवाब आसफुद्दौला की होली पर लिख डाली :

‘होली खेला आसफुद्दौला वजीर,
रंगे-सुहबत से अजब हैं खुर्द-ओ-पीर
दस्ता-दस्ता रंग में भीगे जवाँ
जैसे गुलदस्ता थे जूओं पर रवाँ
कुमकुमे जो मारते भरकर गुलाल
जिसके लगता आन कर फिर मुंह है लाल

बाद के बरसों में तो मीर को लखनऊ की होली ने इस कदर मस्त किया कि इसका रंग जब तब उनके अशआर में झमकता रहा :

आओ साकी बहार फिर आई
होली में कितनी शादियाँ (खुशियाँ) लाई
जिस तरफ देखो मार्का (युद्ध) सा है
शहर है या कोई तमाशा है

फिर लबालब है आबगीरे-रंग
और उड़े है गुलाब किस किस ढंग
खूवान भर भर अबीर लाते हैं
गुल की पत्ती मिला उड़ाते हैं

सिर्फ मीर ही नहीं, दिल्ली छोड़कर लखनऊ तशरीफ लाने वाले एक और शायर सआदत यार खां ‘रंगीन’ भी लखनऊ की होली में सरापा रंगे हुए थे। रंगीन की चंचल शोख रेखती ने लखनऊ को बहुत बदनामी भी दिलाई लेकिन इस शहर की होली उनके मिजाज से बहुत मिलती थी। नमूना मुलाहिजा हो-

भरके पिचकारियों में रंगीन रंग
नाजनीं को खिलायी होली संग
बादल आए हैं घिर गुलाल के लाल
कुछ किसी का नहीं किसी को ख्याल
चलती है दो तरफ से पिचकारी
मह बरसता है रंग का भारी
है खड़ी कोई भर के पिचकारी
और किसी ने किसी को जा मारी
भर के पिचकारी वो जो है चालाक
मारती है किसी को दूर से ताक
किसी ने भर के रंग का तसला
हाथ से है किसी का मुंह मसला
और मुट्टी में अपने भर के गुलाल
डालकर रंग मुँह किया है लाल
जिसके बालों में पड़ गया है अबीर
बड़बड़ाती है यह, वो हो दिलगीर
एसी होली का खोजडा जावे
कोई नौज एसे खेल में आवे
जिसने डाला है हौज में जिसको
वो यह कहती है कोस कर उसको
ये हँसी तेरी भाड़ में जाए
तुझको होली न दूसरी आए’

लखनऊ स्कूल के सबसे बड़े उस्तादों में एक ख्वाजा हैदर अली ‘आतिश’ भी अपने शहर की होली से मुतासिर हुए बगौर नहीं रह सके।

होली शहीद-ए-नाज के खूँ से भी खेलिए
रंग इसमें है गुलाल का बू है अबीर की

लखनऊ की तारीख में जो शख्स होली के सबसे बड़े दीवाने के तौर पर मशहूर है उसका नाम है वाजिद अली शाह

‘अख्तर’ जिसे आज तक उसका शहर जान-ए-आलम कहकर याद करता है। कौमी यकजहती की निशानी के तौर पर अमर हो चुके लखनऊ के इस बांके नवाब ने बेशुमार लोक-गीत होली पर रचे।

मोरे कान्हा जो आए पलट के
अबके होली में खेलूंगी डट के
उनके पीछे मैं चुपके से जा के
ये गुलाल अपने तन से लगा के
रंग दूंगी उन्हें भी लिपट के
अबके होली में खेलूंगी डट के

वाजिद अली शाह की होली को लेकर लखनऊ के मशहूर किस्सों में एक किस्सा यह भी सुनाई देता है कि एक दफा मोहर्रम और होली एक ही दिन पड़ गए। ‘पहले आप’ की तहजीब वाले लखनऊ में हिंदुओं ने फैसला किया कि इस बार वे होली नहीं मनाएंगे। जबकि मुसलमानों का मानना था कि जैसे मोहर्रम को हिंदू अपना ही त्योहार मानते हैं वैसे ही होली हम भी मनाते हैं इसलिए मोहर्रम की वजह से होली न टाली जाए, लिहाजा कोई और रास्ता निकलना चाहिए। वाजिद अली शाह ने एक ही दिन में होली खेले जाने का और मोहर्रम के मातम का अलग अलग वक्त तय किया। इस तरह पूरा लखनऊ होली और मोहर्रम दोनों में शरीक हुआ। ऐतिहासिक रूप से पता नहीं यह घटना कितनी सच्ची है, लेकिन अपनी मिली-जुली तहजीब में यकीन रखने वाला हर लखनवी इसे पूरे ईमान से तस्लीम (स्वीकार) करता है।

उर्दू के एक और बड़े शायर इंशा अल्लाह खां ‘इंशा’ ने भी नवाब सादत अली खां के होली खेलने की तारीफ गद्य और शायरी दोनों में की है। इंशा लिखते हैं- ‘जो शख्स भी इस बात से गुमान करता है कि मैं उनकी खुशामद कर रहा हूँ तो उसके लिए होली के जमाने में बिल-खुसूस हुजूर की खिदमत में हाजिर होना शर्त है कि वो खुद देख ले कि राजा इंद्र परियों के दरम्यान ज्यादा खुश मालूम होते हैं या वली अहद हूरों के दरम्यान।’ शायरी में होली का बयान इंशा इस तरह करते हैं-

संग होली में हुजूर अपने जो लावें हर रात
कन्हैया बनें और सर पे धर लेवें मुकट
गोपियाँ दौड़ पड़े दूँहें कदम की छैयाँ
बांसुरी धुन में दिखा देवें वही जमना तट
गागरे लेवें उठा और ये कहती जावें
देख तो होली जो बन्म होती है पनघट

लखनऊ में नवाबी उजड़ने के बाद भी मुसलमानों का होली खेलना और होली पर शायरी करना पहले की तरह ही जारी

रहा। स्वतंत्रता सेनानी और अजीम शायर हसरत मोहानी ने भी होली पर खूब शायरी की।

मोसे छेड़ करत नंदलाल
लिए ठाड़े अबीर गुलाल
ठीठ भई जिनकी बरजोरी
औरन पर रंग डाल डाल

शायरे इंकलाब जोश मलीहाबादी की शायरी भी होली के रंगों से शराबोर है, आम तौर पर अपनी नज्मों और गजलों के लिए मशहूर जोश ने कई गीत भी लिखे हैं जिनमें होली का जिक्र मिलता है-

गोकुल बन में बरसा रंग
बाजा हर घर में मिरदंग
खुद से खुला हर इक जूड़ा
हर इक गोपी मुस्काई
हिरदै में बदरी छाई

अपने तंजो मिज़ाह (हास्य-व्यंग्य) के लिए मशहूर सागर खय्यामी और उनके भाई नाज़िर खय्यामी भी होली की मस्ती के मतवाले थे। दोनों होली पर दोस्ताना महफिलें भी सजाते थे। सागर साहब की होली-ठिठोली मुलाहिजा हो-

छाई हैं हर इक सिम्त जो होली की बहारें
पिचकारियाँ ताने वो हसीनों की कतारें
हैं हाथ हिना रंग तो रंगीन फुवारें
इक दिल से भला आरती किस किस की उतारें
चंदन से बदन आबे गुले शोख से नम हैं
सौ दिल हों अगर पास तो इस बन्म से कम हैं।

यहाँ तो लखनऊ के सिर्फ चंद मुसलमान शायरों के होली के रंग में डूबे कलाम दिए गए हैं। वास्तव में इस शहर के अनगिनत मुस्लिम शायरों ने होली पर अपनी शायरी के जरिए न सिर्फ लखनऊ की होली की महानता बयान की है बल्कि पूरी दुनिया को धार्मिक सद्भाव का संदेश भी दिया है। नाज़िर खय्यामी का यह पैग़ाम ही देखिए =

ईमां को ईमां से मिलाओ
इरफां को इरफां से मिलाओ
इंसां को इंसां से मिलाओ
गीता को कुरआं से मिलाओ
दैर-ओ-हरम में हो न जंग
होली खेलो हमरे संग!

साभार : <http://www.nainitalsamachar.com>

नए नेताओं के अलग-अलग विचार

जुलाई १९२८ के किरती में छपे इस लेख में भगतसिंह ने सुभाषचन्द्र बोस और जवाहरलाल नेहरू के विचारों की तुलना की है।

■ भगत सिंह

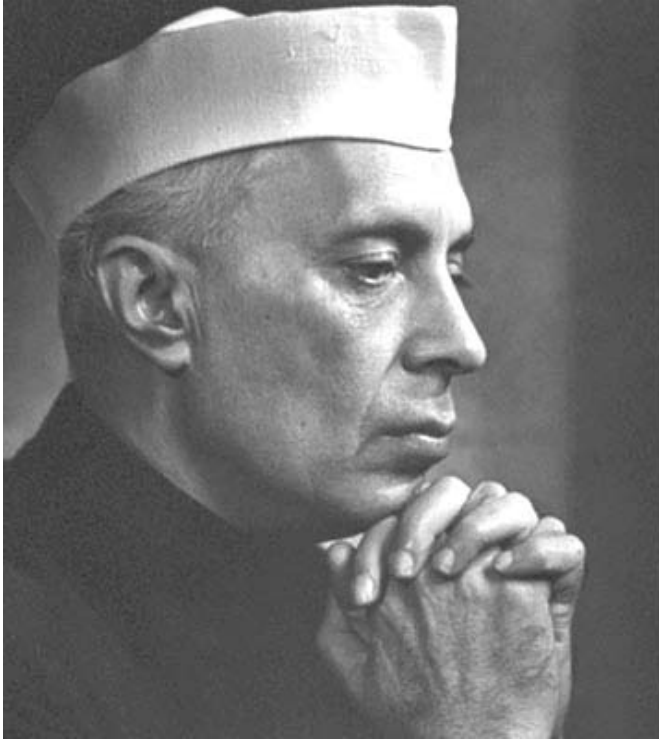


असहयोग आन्दोलन की असफलता के बाद जनता में बहुत निराशा और मायूसी फैली। हिन्दू-मुस्लिम झगड़ों ने बचा-खुचा साहस भी खत्म कर डाला। लेकिन देश में जब एक बार जागृति फैल जाए तब देश ज्यादा दिन तक सोया नहीं रह सकता। कुछ ही दिनों बाद जनता बहुत जोश के साथ उठती तथा हमला बोलती है। आज हिन्दुस्तान में फिर जान आ गई है। हिन्दुस्तान फिर जाग रहा है। देखने में तो कोई बड़ा जन-आन्दोलन नजर नहीं आता लेकिन नींव जरूर मजबूत की जा रही है। आधुनिक विचारों के अनेक नए नेता सामने आ रहे हैं। इस बार नौजवान नेता ही देशभक्त लोगों की नजरों में आ रहे हैं। बड़े-बड़े नेता बड़े होने के बावजूद एक तरह से पीछे छोड़े जा रहे हैं। इस समय जो नेता आगे आए हैं वे हैं- बंगाल के पूजनीय श्री सुभाषचन्द्र बोस और माननीय पण्डित श्री जवाहरलाल नेहरू। यही दो नेता हिन्दुस्तान में उभरते नजर आ रहे हैं और युवाओं के आन्दोलनों में विशेष रूप से भाग ले रहे हैं। दोनों ही हिन्दुस्तान की आजादी के कट्टर समर्थक हैं। दोनों ही समझदार और सच्चे देशभक्त हैं। लेकिन फिर भी इनके विचारों में जमीन-आसमान का अन्तर है। एक को भारत की प्राचीन संस्कृति का उपासक कहा जाता है तो दूसरे को पक्का पश्चिम का शिष्य। एक को कोमल हृदय वाला भावुक कहा जाता है और दूसरे को पक्का युगान्तरकारी। हम इस लेख में उनके अलग-अलग विचारों को जनता के समक्ष रखेंगे, ताकि जनता स्वयं उनके अन्तर को समझ सके और स्वयं भी विचार कर सके। लेकिन उन दोनों के विचारों का उल्लेख करने से पूर्व एक और व्यक्ति का उल्लेख करना भी जरूरी है जो इन्हीं स्वतन्त्रता के प्रेमी

हैं और युवा आन्दोलनों की एक विशेष शिखियत हैं। साधू वासवानी चाहे कांग्रेस के बड़े नेताओं की भाँति जाने माने तो नहीं, चाहे देश के राजनीतिक क्षेत्र में उनका कोई विशेष स्थान तो नहीं, तो भी युवाओं पर, जिन्हें कि कल देश की बागडोर संभालनी है, उनका असर है और उनके ही द्वारा शुरू हुआ आन्दोलन 'भारत युवा संघ' इस समय युवाओं में विशेष प्रभाव रखता है। उनके विचार बिल्कुल अलग ढंग के हैं। उनके विचार एक ही शब्द में बताए जा सकते हैं—'वापस वेदों की ओर लौट चलो।' (बैक टू वेदस)। यह आवाज सबसे पहले आर्यसमाज ने उठाई थी। इस विचार का आधार इस आस्था में है कि वेदों में परमात्मा ने संसार का सारा ज्ञान उड़ेल दिया है। इससे आगे और अधिक विकास नहीं हो सकता। इसलिए हमारे हिन्दुस्तान ने चौतरफा जो प्रगति कर ली थी उससे आगे न दुनिया बढ़ी है और न बढ़ सकती है। खैर, वासवानी आदि इसी अवस्था को मानते हैं। तभी एक जगह कहते हैं—

'हमारी राजनीति ने अब तक कभी तो मैजिनी और वाल्टेयर को अपना आदर्श मानकर उदाहरण स्थापित किए हैं और या कभी लेनिन और टॉल्स्टाय से सबक सीखा। हालांकि उन्हें ज्ञात होना चाहिए कि उनके पास उनसे कहीं बड़े आदर्श हमारे पुराने ऋषि हैं।' वे इस बात पर यकीन करते हैं कि हमारा देश एक बार तो विकास की अन्तिम सीमा तक जा चुका था और आज हमें आगे कहीं भी जाने की आवश्यकता नहीं, बल्कि पीछे लौटने की जरूरत है।

आप एक कवि हैं। कवित्व आपके विचारों में सभी जगह नजर आता है। साथ ही यह धर्म के बहुत बड़े उपासक हैं। यह 'शक्ति' धर्म चलाना



चाहते हैं। यह कहते हैं, 'इस समय हमें शक्ति की अत्यन्त आवश्यकता है।' वह 'शक्ति' शब्द का अर्थ केवल भारत के लिए इस्तेमाल नहीं करते। लेकिन उनको इस शब्द से एक प्रकार की देवी का, एक विशेष ईश्वरीय प्राप्ति का विश्वास है। वे एक बहुत भावुक कवि की तरह कहते हैं —

"For in solitude have communicated with her, our admired Bharat Mata, And my aching head has heard voices saying... The day of freedom is not far off." ..Sometimes indeed a strange feeling visits me and I say to myself – Holy, holy is Hindustan. For still is she under the protection of her mighty Rishis and their beauty is around us, but we behold it not.

अर्थात् एकान्त में भारत की आवाज मैंने सुनी है। मेरे दुखी मन ने कई बार यह आवाज सुनी है कि "आजादी का दिन दूर नहीं"...कभी-कभी बहुत अजीब विचार मेरे मन में आते हैं और मैं कह उठता हूँ—हमारा हिन्दुस्तान पाक और पवित्र है, क्योंकि पुराने ऋषि उसकी रक्षा कर रहे हैं और उनकी खूबसूरती हिन्दुस्तान के पास है। लेकिन हम उन्हें देख नहीं सकते।

यह कवि का विलाप है कि वह पागलों या दीवानों की तरह कहते रहे हैं — "हमारी माता बड़ी महान है। बहुत शक्तिशाली है। उसे परास्त करने वाला कौन पैदा हुआ है।" इस तरह वे केवल मात्र भावुकता की बातें करते हुए कह जाते हैं — "Our national movement must become a purifying mass movement, if it is to fulfil its destiny without falling into clasaa war one of the dangers of Bolshevism."

अर्थात् हमें अपने राष्ट्रीय जन आन्दोलन को देश सुधार का आन्दोलन बना देना चाहिए। तभी हम वर्गयुद्ध के बोल्शेविज्म के खतरों से बच सकेंगे। वह इतना कहकर ही कि गरीबों के पास जाओ, गाँवों की ओर जाओ, उनको दवा-दारू मुफ्त दो — समझते हैं कि हमारा कार्यक्रम पूरा हो गया। वे छायावादी कवि हैं। उनकी कविता का कोई विशेष अर्थ तो नहीं निकल सकता, मात्र दिल का उत्साह बढ़ाया जा सकता है। बस पुरातन सभ्यता के शोर के अलावा उनके पास कोई कार्यक्रम नहीं। युवाओं के दिमागों को वे कुछ नया नहीं देते। केवल दिल को भावुकता से ही भरना चाहते हैं। उनका युवाओं में बहुत असर है। और भी पैदा हो रहा है। उनके दकियानूसी और संक्षिप्त-से विचार यही हैं जो कि हमने

ऊपर बताए हैं। उनके विचारों का राजनीतिक क्षेत्र में सीधा असर न होने के बावजूद बहुत असर पड़ता है। विशेषकर इस कारण कि नौजवानों, युवाओं को ही कल आगे बढ़ना है और उन्हीं के बीच इन विचारों का प्रचार किया जा रहा है।

अब हम श्री सुभाषचन्द्र बोस और श्री जवाहरलाल नेहरू के विचारों पर आ रहे हैं। दो-तीन महीनों से आप बहुत-सी कान्फ्रेंसों के अध्यक्ष बनाए गए और आपने अपने-अपने विचार लोगों के सामने रखे। सुभाष बाबू को सरकार तख्तापलट गिरोह का सदस्य समझती है और इसीलिए उन्हें बंगाल

अध्यादेश के अन्तर्गत कैद कर रखा था। आप रिहा हुए और गर्म दल के नेता बनाए गए। आप भारत का आदर्श पूर्ण स्वराज्य मानते हैं, और महाराष्ट्र कान्फ्रेंस में अध्यक्षीय भाषण में अपने इसी प्रस्ताव का प्रचार किया।

पण्डित जवाहरलाल नेहरू स्वराज पार्टी के नेता मोतीलाल नेहरू ही के सुपुत्र हैं। बैरिस्टरी पास हैं। आप बहुत विद्वान हैं। आप रूस आदि का दौरा कर आए हैं। आप भी गर्म दल के नेता हैं और मद्रास कान्फ्रेंस में आपके और आपके साथियों के प्रयासों से ही पूर्ण स्वराज का प्रस्ताव स्वीकृत हो सका था। आपने अमृतसर कान्फ्रेंस के भाषण में भी इसी बात पर जोर दिया। लेकिन फिर भी इन दोनों सज्जनों के विचारों में जमीन-आसमान का अन्तर है। अमृतसर और महाराष्ट्र कान्फ्रेंसों के इन दोनों अध्यक्षों के भाषण पढ़कर ही हमें इनके विचारों का अन्तर स्पष्ट हुआ था। लेकिन बाद में बम्बई के एक भाषण में यह बात स्पष्ट रूप से हमारे सामने आ गई। पण्डित जवाहरलाल नेहरू इस जनसभा की अध्यक्षता कर रहे थे और सुभाषचन्द्र बोस ने भाषण दिया। वह एक बहुत भावुक बंगाली हैं। उन्होंने भाषण आरंभ किया कि हिन्दुस्तान का दुनिया के नाम एक विशेष सन्देश है। वह दुनिया को आध्यात्मिक शिक्षा देगा। खैर, आगे वे दीवाने की तरह कहना आरम्भ कर देते हैं — चांदनी रात में ताजमहल को देखो और जिस दिल की यह सूझ का परिणाम था, उसकी महानता की कल्पना करो। सोचो एक बंगाली

प्रत्येक नौजवान को विद्रोह करना चाहिए। राजनीतिक क्षेत्र में ही नहीं बल्कि सामाजिक, आर्थिक और धार्मिक क्षेत्र में भी। मुझे ऐसे व्यक्ति की कोई आवश्यकता नहीं जो आकर कहे कि फलाँ बात कुरान में लिखी हुई है। कोई बात जो अपनी समझदारी की परख में सही साबित न हो उसे चाहे वेद और कुरान में कितना ही अच्छा क्यों न कहा गया हो, नहीं माननी चाहिए।

उपन्यासकार ने लिखा है कि हममें यह हमारे आँसू ही जमकर पत्थर बन गए हैं। वह भी वापस वेदों की ओर ही लौट चलने का आह्वान करते हैं। आपने अपने पूना वाले भाषण में 'राष्ट्रवादिता' के सम्बन्ध में कहा है कि अन्तर्राष्ट्रीयतावादी, राष्ट्रीयतावाद को एक संकीर्ण दायरे वाली विचारधारा बताते हैं, लेकिन यह भूल है। हिन्दुस्तानी राष्ट्रीयता का विचार ऐसा नहीं है। वह न संकीर्ण है, न निजी स्वार्थ से प्रेरित है और न उत्पीड़नकारी है, क्योंकि इसकी जड़ या मूल तो 'सत्यम् शिवम् सुन्दरम्' है अर्थात् सच, कल्याणकारी

और सुन्दर।

यह भी वही छयावाद है। कोरी भावुकता है। साथ ही उन्हें भी अपने पुरातन युग पर बहुत विश्वास है। वह प्रत्येक बात में अपने पुरातन युग की महानता देखते हैं। पंचायती राज का ढंग उनके विचार में कोई नया नहीं। 'पंचायती राज और जनता के राज' वे कहते हैं कि हिन्दुस्तान में बहुत पुराना है। वे तो यहाँ तक कहते हैं कि साम्यवाद भी हिन्दुस्तान के लिए नई चीज नहीं है। खैर, उन्होंने सबसे ज्यादा उस दिन के भाषण में जोर किस बात पर दिया था कि हिन्दुस्तान का दुनिया के लिए एक विशेष सन्देश है। पण्डित जवाहरलाल आदि के विचार इसके बिल्कुल विपरीत हैं। वे कहते हैं —

“जिस देश में जाओ वही समझता है कि उसका दुनिया के लिए एक विशेष सन्देश है। इंग्लैंड दुनिया को संस्कृति सिखाने का ठेकेदार बनता है। मैं तो कोई विशेष बात अपने देश के पास नहीं देखता। सुभाष बाबू को उन बातों पर बहुत यकीन है।” जवाहरलाल कहते हैं —

"Every youth must rebel. Not only in political sphere, but in social, economic and religious spheres also. I have not much use for any man who comes and tells me that such and such thing is said in Koran, Every thing unreasonable must be discarded even if they find authority for in the Vedas and Koran."

[यानी] “प्रत्येक नौजवान को विद्रोह करना चाहिए।

राजनीतिक क्षेत्र में ही नहीं बल्कि सामाजिक, आर्थिक और धार्मिक क्षेत्र में भी। मुझे ऐसे व्यक्ति की कोई आवश्यकता नहीं जो आकर कहे कि फलौं बात कुरान में लिखी हुई है। कोई बात जो अपनी समझदारी की परख में सही साबित न हो उसे चाहे वेद और कुरान में कितना ही अच्छा क्यों न कहा गया हो, नहीं माननी चाहिए।”

यह एक युगान्तरकारी के विचार हैं और सुभाष के एक राज-परिवर्तनकारी के विचार हैं। एक के विचार में हमारी पुरानी चीजें बहुत अच्छी हैं और दूसरे के विचार में उनके विरुद्ध विद्रोह कर दिया जाना चाहिए। एक को भावुक कहा जाता है और एक को युगान्तरकारी और विद्रोही। पण्डित जी एक स्थान पर कहते हैं —

"To those who still fondly cherish old ideas and are striving to bring back the conditions which prevailed in Arabia 1300 years ago or in the Vedic age in India. I say, that it is inconceivable that you can bring back the hoary past. The world of reality will not retrace its steps, the world of imaginations may remain stationary."

वे कहते हैं कि जो अब भी कुरान के जमाने के अर्थात् 1300 बरस पीछे के अरब की स्थितियाँ पैदा करना चाहते हैं, जो पीछे वेदों के जमाने की ओर देख रहे हैं उनसे मेरा यह कहना है कि यह तो सोचा भी नहीं जा सकता कि वह युग वापस लौट आएगा, वास्तविक दुनिया पीछे नहीं लौट सकती, काल्पनिक दुनिया को चाहे कुछ दिन यहीं स्थिर रखो। और इसीलिए वे विद्रोह की आवश्यकता महसूस करते हैं।

सुभाष बाबू पूर्ण स्वराज के समर्थन में हैं क्योंकि वे कहते हैं कि अंग्रेज पश्चिम के वासी हैं। हम पूर्व के। पण्डित जी कहते हैं, हमें अपना राज कायम करके सारी सामाजिक व्यवस्था बदलनी चाहिए। उसके लिए पूरी-पूरी स्वतन्त्रता प्राप्त करने की आवश्यकता है।

सुभाष बाबू मजदूरों से सहानुभूति रखते हैं और उनकी स्थिति सुधारना चाहते हैं। पण्डित जी एक क्रांति करके सारी व्यवस्था ही बदल देना चाहते हैं। सुभाष भावुक हैं — दिल के लिए। नौजवानों को बहुत कुछ दे रहे हैं, पर मात्र दिल के लिए। दूसरा युगान्तरकारी है जो कि दिल के साथ-साथ दिमाग को भी बहुत कुछ दे रहा है।

"They should aim at Swaraj for the

masses based on socialism. That was a revolutionary change with they could not bring out without revolutionary methods... Mere reform or gradual repairing of the existing machinery could not achieve the real proper Swaraj for the General Masses." अर्थात् हमारा समाजवादी सिद्धान्तों के अनुसार पूर्ण स्वराज होना चाहिए, जो कि युगान्तरकारी तरीकों के बिना प्राप्त नहीं हो सकता। केवल सुधार और मौजूदा सरकार की मशीनरी की धीमी-धीमी की गई मरम्मत जनता के लिए वास्तविक स्वराज्य नहीं ला सकती।

यह उनके विचारों का ठीक-ठाक अक्स है। सुभाष बाबू राष्ट्रीय राजनीति की ओर उतने समय तक ही ध्यान देना आवश्यक समझते हैं जितने समय तक दुनिया की राजनीति में हिन्दुस्तान की रक्षा और विकास का सवाल है। परन्तु पण्डित जी राष्ट्रीयता के संकीर्ण दायरों से निकलकर खुले मैदान में आ गए हैं।

अब सवाल यह है कि हमारे सामने दोनों विचार आ गए हैं। हमें किस ओर झुकना चाहिए। एक पंजाबी समाचार पत्र ने सुभाष की तारीफ के पुल बाँधकर पण्डित जी आदि के बारे में कहा था कि ऐसे विद्रोही पत्थरों से सिर मार-मारकर मर जाते हैं। ध्यान रखना चाहिए कि पंजाब पहले ही बहुत भावुक प्रान्त है। लोग जल्द ही जोश में आ जाते हैं और जल्द ही झाग की तरह बैठ जाते हैं।

सुभाष आज शायद दिल को कुछ भोजन देने के अलावा कोई दूसरी मानसिक खुराक नहीं दे रहे हैं। अब आवश्यकता इस बात की है कि पंजाब के नौजवानों को इन युगान्तरकारी विचारों को खूब सोच-विचार कर पक्का कर लेना चाहिए। इस समय पंजाब को मानसिक भोजन की सख्त जरूरत है और यह पण्डित जवाहरलाल नेहरू से ही मिल सकता है। इसका अर्थ यह नहीं है कि उनके अन्धे पैरोकार बन जाना चाहिए। लेकिन जहाँ तक विचारों का सम्बन्ध है, वहाँ तक इस समय पंजाबी नौजवानों को उनके साथ लगना चाहिए, ताकि वे इन्कलाब के वास्तविक अर्थ, हिन्दुस्तान के इन्कलाब की आवश्यकता, दुनिया में इन्कलाब का स्थान क्या है, आदि के बारे में जान सकें। सोच-विचार के साथ नौजवान अपने विचारों को स्थिर करें ताकि निराशा, मायूसी और पराजय के समय में भी भटकाव के शिकार न हों और अकेले खड़े होकर दुनिया से मुकाबले में डटे रह सकें। इसी तरह जनता इन्कलाब के ध्येय को पूरा कर सकती है।

“अमा तुम गाली दो बेशक पर सुर में तो दो....गुस्सा आता है बस उस पर जो बेसुरी बात करता है.....पैसा खर्च करोगे तो खत्म हो जायेगा पर सुर को खर्च करके देखिये महाराज...कभी खत्म नहीं होगा...”

उस्ताद बिस्मिल्लाह

■ सुरेंद्र रावत (आई.एस.डी.)



भारतीय संगीत के इतिहास में यूं अनेकों नाम सुनकर हफ्तों में दर्ज हैं लेकिन चंद ही शख्सियतें ऐसी हैं जिनके सम्मान में सिर खुद-ब-खुद सजड़ा करता है। ऐसी ही एक अज़ीम शख्सियत का जन्म भोजपुर के डुमरांव (बिहार) में 21 मार्च साल 1916 को पिता पैगम्बर बख्श व माँ मिट्टन के यहाँ हुआ। नवजात को नाम मिला कमरुद्दीन। पर पहले-पहल जब दादा रसूल बख्श की नज़र अपने पोते पर पड़ी तो होंठों से अनायास ही कुरान का बोल ‘बिस्मिल्लाह’ निकला। कुदरत को भी जैसे यही मंजूर था और हिंदुस्तान के दिलो-दिमाग में उस्ताद बिस्मिल्लाह खाँ किसी आयत की तरह जज़्ब हो गए।

खाँ साहब के वालिद पैगम्बर बख्श डुमरांव रियासत के महाराजा केशव प्रसाद सिंह के दरबार में शहनाई वादक थे। सगे-संबंधियों का नाता भी साज़ों से ही था। एक नज़र से संगीत उनकी रगों में समाया हुआ था। शहनाई की तान सुनते हुए ही उन्होंने होश संभाला। कम उम्र में ही सिर से माँ का साया उठ गया और कमरुद्दीन अपने मामू अली बख्श ‘विलायतु’ के साथ बनारस आ गए। अली बख्श ‘विलायतु’ की देखरेख में कमरुद्दीन ने सुरों की साधना की। उस्ताद से हिदायत मिली कि व्यायाम किए बिना साँस के इस बाजे से प्रभाव नहीं पैदा किया जा सकेगा। इस पर बिस्मिल्लाह खाँ उस्ताद की बात मानकर सुबह-सुबह गंगा के घाट पहुँच जाते और व्यायाम से अपने शरीर को गठीला बनाते।

राष्ट्रीय स्तर पर पहचान

बिस्मिल्लाह खाँ को राष्ट्रीय स्तर पर पहचान 30 के दशक में कलकत्ता के एक अखिल भारतीय संगीत सम्मेलन—जोकि बिहार के भूकंप पीड़ितों की सहायता के लिए आयोजित किया गया था—से मिली। इस समारोह में खाँ साहब ने शहनाई की स्वर लहरियों से ऐसा समां बाँधा कि गुनीजन भी दंग रह गए और उनके फन के चर्चे मशहूर होने लगे। उस वक्त उनकी उम्र महज 20 साल की थी। खाँ साहब की इस यात्रा की इब्तिदा की इतिहां यह थी कि बिस्मिल्लाह और शहनाई का वजूद एक दूसरे में समा गए। खाँ साहब की ज़िंदगी और कला के बीच कोई फासला नहीं रहा।

इंसानियत-परस्त शख्सियत

खाँ साहब गहरे तौर पर धार्मिक और इंसानियत-परस्त शख्सियत थे। जाति और मजहबों की लकीरों में बंटे समाज में पांच वक्त के नमाज़ी उस्ताद सुबह और शाम काशी विश्वनाथ मंदिर में भी भोलेनाथ को अपने शहनाई वादन से रिझाते रहे। भोलेनाथ की ही तरह उस्ताद की जीवन शैली बहुत सादी और व्यक्तित्व फकीराना था। शहर बनारस में वे अक्सर साइकिल रिक्शा से ही सफर करते नज़र आते। खाँ



आकाशवाणी और दूरदर्शन पर अल सुबह बजने वाली मंगल ध्वनि उस्ताद बिस्मिल्लाह खान की शहनाई की तान है, जिसके लिए विशेष एलपी तैयार कराया गया था। एक समय था जब इस मंगल ध्वनि से ही पूरे देश की सुबह होती थी।

साहब सूफी-संतों की माला के मनके जैसे थे।

और मौलाना चुप

खाँ साहब के लिए संगीत, सुर व नमाज़ एक ही चीज़ थे। इन तीन बातों के अलावा बिस्मिल्लाह खाँ के लिए सारे इनाम-इकराम, सम्मान बेमानी थे। उन्होंने एकाधिक बार कहा कि—‘सिर्फ संगीत ही है, जो इस देश की विरासत और तहज़ीब को एकाकार करने की ताकत रखता है।’ बरसों पहले कुछ कट्टरपंथियों ने बिस्मिल्लाह खाँ के शहनाई वादन पर आपत्ति की। उन्होंने आँखें बंद कीं और उस पर ‘अल्लाह हूँ’ बजाते रहे। थोड़ी देर बाद उन्होंने मौलवियों से पूछा—‘मैं अल्लाह को पुकार रहा हूँ, मैं उसकी खोज कर रहा हूँ। क्या मेरी ये जिज्ञासा हराम है।’ निश्चित ही सब बेजुबान हो गए।

फिल्मी संगीत

खान ने कई फिल्मों में भी संगीत दिया। उन्होंने कन्नड़ फिल्म ‘सन्नादी अपन्ना’, हिंदी फिल्म ‘गूँज उठी शहनाई’ और सत्यजीत रे की फिल्म ‘जलसाघर’ के लिए शहनाई की धुनें छेड़ी। आखिरी बार उन्होंने आशुतोष गोवारिकर की हिन्दी फिल्म ‘स्वदेश’ के गीत ‘ये जो देश है तेरा’ में शहनाई की मधुर तान बिखेरीं।

क्या हम आज़ाद नहीं हुए ?

लाल किले पर हिंदुस्तान की आज़ादी का जलसा था। पण्डित नेहरु ने हमें बुलाया। बहुत मुहब्बत रखते थे वो हमसे। कहा कि इस जलसे में तुम बजाओगे। जलसे की रूपरेखा यह थी कि आगे-आगे शहनाई बजाते हुए हमें चलना था और हमारे पीछे राष्ट्रपति, प्रधानमंत्री वगैरह तमाम बड़े लोगों को आना था। हम तो उखड़ गए। यह भी कोई बात हुई! हम खड़े होकर, चलते हुए कैसे बजा सकते हैं? हमने तो साफ मना कर दिया। नेहरु को भी गुस्सा आ गया। बोले—बजाना तो पड़ेगा! हमने भी उसी तैश में आकर कहा—आज़ादी क्या सिर्फ आपके ही लिए आई है? क्या हम आज़ाद नहीं हुए हैं? यह हमारी आज़ादी है कि हम इस तरह बजाने से मना कर रहे हैं। जवाहर लाल ने एकदम बात को सम्भाला। हंसते हुए बोले—“बिस्मिल्लाह यह भी तो तुम्हारी

आज़ादी है कि आगे-आगे तुम चलोगे और पीछे-पीछे हम सब!’ और उनकी हंसी में हमारा सारा मलाल, सारी शिकायत बह गई। और हमने बजाया।

बालाजी का आशीर्वाद

मेरा बचपन मेरे मामू के घर ही बीता था। वही मेरे प्रारंभिक गुरु भी थे। वे घंटों बालाजी के मंदिर में बैठ कर रियाज किया करते थे। जब मैं कुछ बड़ा हुआ तो उन्होंने मुझे भी वहीं बैठ कर सुर साधने का आदेश दिया। मैं भी मंदिर में बिना दिन रात की परवाह किये रियाज करने लगा। इसमें कभी-कभी आधी रात भी हो जाती थी। करीब डेढ़-दो साल बाद एक दिन मामू साहब ने मुझे अकेले में बुला कर कहा कि यदि मंदिर में तुम कुछ देखो तो उसका जिक्र किसी से भी नहीं करना। बात मेरी समझ में कुछ आयी कुछ नहीं आयी पर मैं तन-मन से शहनाई पर सुर साधने में लगा रहा। ऐसे ही एक दिन काफी रात हो गयी थी मैं ध्यान में डूबा शहनाई बजा रहा था कि अचानक मंदिर एक अलौकिक सुगंध से भर गया। मुझे लगा शायद किसी ने गंगा किनारे लोबान आदि जलाया होगा, पर धीरे-धीरे वह सुगंध तेज होती गयी। मेरी आँखें खुल गयीं। मैंने देखा मेरे सामने साक्षात् बालाजी खड़े हैं। ठीक मंदिर में लगी तस्वीर के रूप में। मैं

पसीने-पसीने हो गया। उन्होंने आशीर्वाद स्वरूप हाथ उठाया और बोले, बेटा बजाओ। मेरी तो घीघ्नी बंध गयी थी। फिर वे मुस्कराये और अदृश्य हो गये। डर के मारे मेरा सारा बदन कांप रहा था। मैं वहीं सब कुछ छोड़-छाड़ कर घर की ओर भागा और मामू को जगा सारी बात बतानी शुरू की ही थी कि उन्होंने कस कर एक थप्पड़ मुझे जड़ दिया और कहा कि तुम्हें मना किया था ना कि कुछ भी घटित हो किसी को मत बताना। फिर उन्होंने मुझे पुचकारा और कभी भी ना घबड़ाने की हिदायत दी। इसके बाद मैं वर्षों एकांत में शहनाई बजाता रहा और अपने ऊपर बालाजी का आशीर्वाद और मामू के प्यार का एहसास महसूस करता रहा।

और उदंड भीड़ में सन्नाटा पसर गया सन् दो हजार की बात है। ताजमहल के पार्श्व में एक म्यूजिकल टीवी शो की

बकौल ‘सुर की बारादरी’ किताब के लेखक यतीन्द्र मिश्र—तब उस्तादजी को ‘भारत रत्न’ भी मिल चुका था। पूरी तरह स्थापित और दुनिया में उनका नाम था। एक बार एक उनकी शिष्या ने कहा कि—उस्तादजी, अब आपको तो भारतरत्न भी मिल चुका है और दुनिया भर के लोग आते रहते हैं आपसे मिलने के लिए। फिर भी आप फटी तहमद पहना करते हैं, अच्छा नहीं लगता। उस्तादजी ने बड़े ही लाड़ से जबाब दिया—अरे बेटा! भारतरत्न इ लुंगिया को थोड़े ही न मिला है। लुंगिया का क्या है, आज फटी है, कल सिल जाएगा। दुआ करो कि ये सुर न फटी मिले।

रिकार्डिंग चल रही थी। एक सदी की विदाई और दूसरी सदी के स्वागत की थीम पर आधारित इस कार्यक्रम में संगीत और सिनेमा जगत की कई जानी-मानी हस्तियां शिरकत कर रही थीं। इस कार्यक्रम की शूटिंग में एक दिन शास्त्रीय संगीत के अंतर्गत गायन और वादन की प्रस्तुतियों के लिए तय कर दिया गया था। इसमें शास्त्रीय संगीत में गायन और वादन से जुड़ी तमाम अंतर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त हस्तियों के साथ उस्ताद बिस्मिल्लाह खां साहब की प्रस्तुति भी होनी थी। दर्शक दीर्घा में भीड़ कुछ उहंड थी। संभवतः मनमोहक नृत्य अथवा सुगम संगीत प्रस्तुतियों की उम्मीद में बैठे लोग शास्त्रीय संगीत की प्रस्तुतियों को हजम नहीं कर पा रहे थे और कलाकारों द्वारा बार-बार तवज्जो की गुजारिश के बावजूद लगभग सभी को हूट कर रहे थे। ऐसे में उस्ताद की बारी आई। उस्ताद ने किसी से तवज्जो की भीख नहीं मांगी बल्कि मंच पर आते ही बड़ी शालीनता के साथ माइक संभाला और बोले, “मैं ज्यादा तो बोलता नहीं, शहनाई की जुबान जानता हूँ, बस इतना ही कहना चाहता हूँ की मेरा नाम बिस्मिल्लाह खां है, माफी चाहूंगा मैं अब शहनाई बजाने जा रहा हूँ, आप चाहें तो कानों में रुई टूंस सकते हैं।” उस्ताद के इतना कहते ही सन्नटा पसर गया और फिर कम से कम उस्ताद की प्रस्तुति के दौरान कोई हो-हल्ला नहीं हुआ। यही नहीं कार्यक्रम के अंत में जब बेशुमार तालियां बजीं तो उस्ताद ने यही कहा कि, “मुझ से पहले भी जो कलाकार आए उनकी प्रस्तुति मुझसे भी बेहतर थी लेकिन उनकी बदनसीबी रही कि आप उन्हें तवज्जो न दे सके।”

सम्मान व पुरस्कार

उस्ताद बिस्मिल्लाह खान अपनी कला में ऐसे शीर्ष पर पहुंचे थे जहां सम्मान उनके हाथों का स्पर्श पाकर सम्मानित होते थे। और भारत के शायद ही ऐसा कोई शीर्ष सम्मान होगा जो उनको न अर्पित किया गया हो। 11 अप्रैल, 1956 को राष्ट्रपति डॉ. राजेन्द्र प्रसाद ने हिन्दुस्तानी संगीत सम्मान अर्पित किया, राष्ट्रपति के ही हाथों 27 अप्रैल, 1961 को पद्मश्री से सम्मानित किया गया। 16 अप्रैल, 1968 को पद्म भूषण, 22 मई, 1980 को पद्म विभूषण और वर्ष 1992 में ईरान सरकार से मिला तालार मौसीकी अवॉर्ड भी शामिल है। इसके बाद 4 मई 2001 को तत्कालीन राष्ट्रपति के. आर. नारायणन ने उस्ताद बिस्मिल्लाह खान को भारत के सर्वोच्च सम्मान

भारत रत्न से सम्मानित किया।

बनारस व गंगा मैय्या से बेपनाह मोहब्बत

बनारस से उन्हें इतना प्यार था कि जिंदगी की अंतिम सांस यहां लेकर यहीं की मिट्टी में दफन हो गए। बिस्मिल्लाह सिर्फ शहनाई के ही उस्ताद नहीं थे, बल्कि हिंदू-मुस्लिम कौमी एकता की भी बड़ी मिसाल थे। बनारस के काशी विश्वनाथ मंदिर के ठीक सामने बने गलियारे में वे लंबे वक्त तक भोले बाबा के लिए शहनाई बजाते थे। बनारस के कई घाट उनके रियाज के गवाह बने। हमेशा कहते थे कि उन्हें बनारस और गंगा नदी से कोई जुदा नहीं कर सकता है।

अपने जाने का पूर्वाभास

उनको अपने जाने का पूर्व आभास हो गया था इसलिए अंतिम सांस लेने से कुछ घंटे पहले ही उन्होंने अपने पुत्र व शिष्य नैयर हुसैन को राग अहीर भैरवी की बारीकियां इस तरह समझाई थीं मानो गुरु मंत्र दे रहे थे और 21 अगस्त, 2006 को 90 वर्ष की आयु में इनका देहावसान हो गया। यह भी इत्तेफाक है कि बिस्मिल्लाह खां साहब की पैदाइश की तारीख भी 21 है और उन्होंने आंखें भी मूंदीं इसी तारीख को। महीने क्रमशः मार्च और अगस्त के थे। अपने अंतिम दिनों में दिल्ली के इंडिया गेट पर खाँ साहब ने शहनाई बजाने की इच्छा व्यक्त की थी लेकिन खाँ साहब की यह इच्छा पूरी नहीं हो पाई और वे इण्डिया गेट पर शहनाई बजाने की तमन्ना मन में लिए ही चले गए। उनके शहनाई के प्रति प्रेम को देखते हुए हुए उनके साथ शहनाई को भी सुपुर्दे खाक किया गया और भारतीय सेना द्वारा इक्कीस तोपों की सलामी दी गई।

अंत में :

<https://www.youtube.com/watch?v=fbMeqP-NqwI>
आप सोच रहे होंगे कि आखिकार यू-ट्यूब का यह लिंक क्या बला है। “का करूं सजनी, आए ना बालम... खोज रही हैं प्रिया परदेसी अंखियां... आए न बालम... का करूं सजनी... ?” राग भैरवी में निबद्ध यह ठुमरी आपके बैचन दिल को और बैचन कर सकती है, बशर्ते आप इसे उस्ताद बिस्मिल्लाह खान से सुनें।

लेख विभिन्न स्रोतों पर आधारित है।



सुनिए हम वो आदमी हैं जब हम हिंदुस्तान से बाहर आते हैं तो हमको हिंदुस्तान दिखाई देता है और जब हिंदुस्तान में रहते हैं मुंबई में, मद्रास में, कलकत्ता में प्रोग्राम में, तो हमको बनारस व गंगा मैया दिखाई देती है।

—एक अमेरिकन के बिस्मिल्लाह खान से अमेरिका में बस जाने के आग्रह पर उनका जवाब।

हे भले आदमियों

डबडबा गई हैं तारों-भरी
शरद से पहले की यह
अंधेरी नम
रात !
उतर रही है नींद
सपनों के पंख फैलाए
छोटे-मोटे हजार दुखों से
जर्जर पंख फैलाए
उतर रही है नींद
हत्यारों के भी सिरहाने,

हे भले आदमियों !
कब जागोगे
और हथियारों को बेमतलब बना दोगे ?
हे भले आदमियों !
सपने भी सुखी और आजाद होना चाहते हैं ।

उनका डर

वे डरते हैं
किस चीज़ से डरते हैं वे
तमाम धन-दौलत
गोला-बारूद पुलिस-फौज के बावजूद ?
वे डरते हैं
कि एक दिन
निहत्थे और गरीब लोग
उनसे डरना
बंद कर देंगे ।

सच्चाई

मेहनत से मिलती है
छिपाई जाती है स्वार्थ से
फिर, मेहनत से मिलती है ।



गोरख पांडेय

1945—29 जनवरी, 1989

जब गाँधी ने कहा था : पाखंडी लोग खादी पहनकर अपने पाखंड को बढ़ाते हैं...

खादी का प्रचार करने या उसे पहनने वाला हर व्यक्ति खुद को गांधीवादी कहने लगे तब हमें गांधीजी की इस बात का संदर्भ-प्रसंग जरूर याद करना चाहिए।

■ अव्यक्त

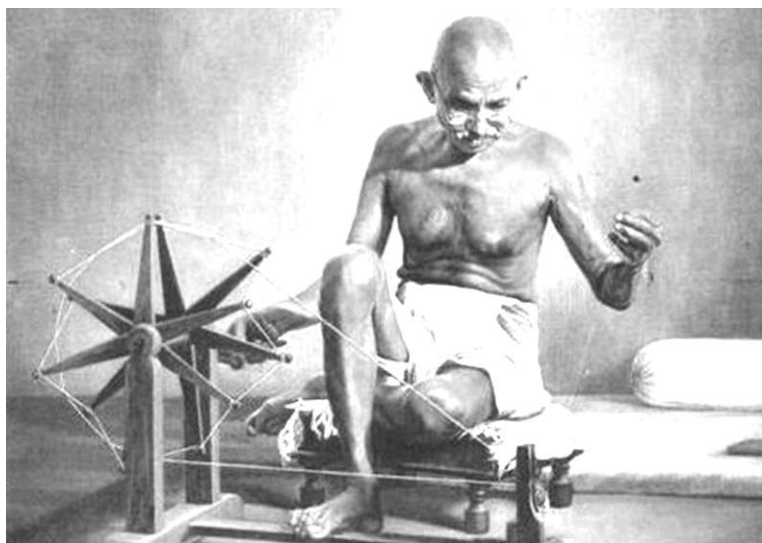
हाल में खादी और ग्रामोद्योग आयोग की डायरी-कैलेंडर पर प्रधानमंत्री नरेंद्र मोदी की तस्वीर ने विवाद खड़ा कर दिया था। अब खबर आ रही है कि आयोग ने नामी ब्रांड फैब इंडिया को नोटिस भेज दिया है। उसका कहना है कि फैब इंडिया रेडीमेड कॉटन के कपड़ों को खादी बताकर बेच रहा है जो नियमों का उल्लंघन है। कंपनी को जवाब देने के लिए 15 दिन का वक्त दिया गया है।

एक बार महात्मा गांधी ने चरखा चलाने वालों के लिए दो उदाहरण सामने रखे थे। पहला उदाहरण उन्होंने रखा था मुगल बादशाह औरंगजेब

का जो अपनी टोपियां खुद ही बनाता था। और दूसरा उदाहरण था कबीर का जिन्होंने गांधी के मुताबिक इस कला को अमर बना दिया था। 21 जुलाई, 1920 को यंग इंडिया में छपे अपने इस लेख में गांधी ने लिखा कि 'जब यूरोप शैतान के चंगुल में नहीं फंसा था, उन दिनों वहां की रानियां भी सूत कातती थीं और इसे एक अच्छा काम मानती थीं।' दरअसल गांधी ने यह बात मदन मोहन मालवीय के प्रयासों के संदर्भ में कही थी जो भारत के राजा-महाराजा और रानी-महारानियों को भी चरखे पर बिठाकर सूत कातवाना चाहते थे।

इसे देखते हुए प्रथम दृष्ट्या ऐसा जरूर लगता है कि आज अगर गांधी होते तो शायद उन्हें इस बात से खुशी ही होती कि चरखे पर सूत कातते हुए देश के मुखिया की तस्वीर छपे या खादी का खूब प्रचार-प्रसार हो। लेकिन खादी और चरखे के बेजा इस्तेमाल से भी गांधी बेखबर नहीं थे। उन्होंने खादी के केवल सूत ही नहीं काते थे, उसकी सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक और आध्यात्मिक रूई भी उधेड़ी थी।

चरखे की सामाजिक ताकत यह थी कि कोई भी इस पर सूत कात सकता था। राजा से लेकर रंक तक, वृद्ध से लेकर किशोर तक और किसी भी जाति, संप्रदाय और लिंग के लिए इसमें कोई भेदभाव नहीं था। हां, चरखा यह



अवसर जरूर देता था कि जिसे अपनी जाति और विद्वता आदि का अभिमान हो वह बढई, लोहार और बुनकर से विनम्रतापूर्वक चरखे और तकुए की बारीकियां सीखे। वह अपने किताबी ज्ञान को एक किनारे रखकर लोढ़ाई, पिंजाई, ताना मारना, मांड लगाना, रंगाई और बुनाई भी सीखे। दूसरी तरफ अनपढ़ से अनपढ़ और गरीब से गरीब भी बिना किसी पूंजी के ठीकरी और बांस की खपची यानी तकली पर भी कताई कर सकता था।

यही आत्मनिर्भरता और सर्वसुलभ रोजगार खाली समय में अतिरिक्त आय के रूप में एक आर्थिक ताकत भी मुहैया कराता था। एक वैकल्पिक रोजगार के रूप में इसमें वह क्षमता थी कि अकाल और भयंकर गरीबी के समय किसी को भी तात्कालिक राहत मुहैया करा सके। एक उद्योग के रूप में इसमें वह आर्थिक ताकत भी थी जिससे केवल व्यापारिक हितों के लिए शासन करने वाली विदेशी सरकार की बुनियाद हिल जाए। और इस तरह चरखा अहिंसक और सूक्ष्म राजनीतिक साधन भी था।

इसमें कोई संदेह नहीं है कि स्वदेशी और खादी ने किसी समय इंग्लैंड में बैठे सूती मिल-मालिकों के कान खड़े कर दिए थे और गोरे व्यापारियों की नींद में भी खलल पड़ा था। दूसरे विश्वयुद्ध के दौरान जब केवल नौ महीनों में ही एक करोड़ 60 लाख गज खादी कपड़ा तैयार कर लिया गया तो एक ग्रामीण उद्योग के रूप में इसकी ताकत का अंदाजा भी हो गया था। यही कारण था कि खादी की जब्ती से लेकर उसके भंडारों को जलाने तक की कोशिश बरतानवी हुकूमत ने की थी। हालांकि गांधी ने आठ दिसंबर, 1921 को यंग इंडिया में अपने लेख में लिखा था- 'चरखा व्यापारिक युद्ध की नहीं, बल्कि व्यापारिक शांति की निशानी है।'

लेकिन चरखे की साधना में गांधी जैसे ही गहरे उतरे, वैसे ही वह उनके लिए एक आध्यात्मिक साधन भी बन गया। 16 मई, 1926 को 'नवजीवन' में अपने एक लेख में वे कहते हैं- 'मैं चरखे को अपने लिए मोक्ष का द्वार मानता हूँ। ऐसे ही कई स्थानों पर उन्होंने चरखे के लिए मूर्तिरूपी ईश्वर, अन्नपूर्णा और यज्ञ जैसे रूपकों का भी इस्तेमाल किया। जब रविन्द्रनाथ टैगोर ने अपने प्रसिद्ध लेख 'दी कल्ट ऑफ चरखा' में चरखे से जुड़े कई पहलुओं की जोरदार आलोचना की थी, तो बिना व्यक्तिगत हुए जवाबी

चिट्ठी में गांधीजी ने लिखा था कि 'मैं तो भगवद्गीता में भी चरखे को ही देखता हूँ।'

जाहिर है इस पर कई सवाल उठे। लोगों ने गांधी को चिट्ठियां लिखकर आलोचनात्मक सवालों की झड़ी लगा दी। ऐसे ही सवालों का बिंदुवार जवाब देते हुए इस लेख में गांधी ने कहा- 'जितना (वैचारिक) बोझ बेचारा चरखा उठा सकता है, उससे कहीं अधिक बोझ इस पर पर डाल दिया जाता है और जब वह इसे उठा नहीं पाता तो उस पर दोष लगाए जाते हैं, जबकि असल में तो वह दोष उस बोझ के रखने वाले का होता है।' बदले दौर में भी चरखा शायद उसी बोझ को ढोता हुआ दिखाई देता है।

गांधीजी के प्रयासों से जब खादी और चरखे की लोकप्रियता भारत के संभ्रांत तबकों से लेकर यूरोपीय लोगों तक में फैलने लगी तो मीडिया के जरिए भी छल, बल, कल का सहारा लिया गया था। इतना तक कि 'टाइम्स ऑफ इंडिया' अखबार में एक ऐसा लेख छपवाया गया, जिसमें बिना मोटरकार के खादी बेचने निकल पड़े पंडित मोतीलाल नेहरू के लिए 'गधा बनने' जैसे अपशब्दों का इस्तेमाल किया गया था। इतना ही नहीं इस लेख में खादी को 'कांग्रेस का कफन' करार दिया गया था। 15 अप्रैल, 1926 को यंग इंडिया में एक जोरदार लेख लिखकर गांधी ने इस अपमानजनक लेख का माकूल जवाब दिया था।

गांधी के खादी संबंधी विचारों के बारे में कई भ्रांतियां स्वयं गांधी-विचार से जुड़े लोगों में भी पाई जाती हैं। गांधी के अर्थशास्त्र में खादी किसी मिल से प्रतिस्पर्धा करनेवाला उद्योग न होकर बेरोजगार और निरुद्यमी लोगों के लिए एक वैकल्पिक और तात्कालिक रोजगार का स्रोत भर था। इसे स्पष्ट करते हुए उन्होंने लिखा- 'मैंने कताई उद्योग को विकसित करने के लिए किसी भी अन्य पोषक उद्योग को त्यागने की कल्पना तक नहीं की है। ...हिंदुस्तान में करोड़ों लोग बेरोजगार रहते हैं, इसी आधार पर चरखे का प्रचार-प्रसार आरंभ किया गया है। मुझे स्वीकार करना चाहिए कि जिस दिन भारत में ऐसे बेरोजगार लोग नहीं रहेंगे, उस दिन इस देश में चरखे के लिए कोई स्थान नहीं रहेगा. ...मैं जो मध्यम वर्ग के लोगों से यज्ञार्थ चरखा चलाने के लिए कहता हूँ, वह भी बचे हुए समय में ही। चरखे की प्रवृत्ति किसी उद्योग की विनाशक नहीं, बल्कि पोषक प्रवृत्ति है। इसलिए मैंने उसे अन्नपूर्णा की उपमा दी है।'

हालांकि गांधीजी को मालूम था कि चरखा चलाने और उस पर खुद से बुने हुए खादी को धारण करने का आध्यात्मिक आनंद जो समझ लेगा, वह इसे छोड़ेगा नहीं। उन्होंने चरखे से निकलने वाली धर-धरी आवाज को 'चरखे के संगीत' का नाम दिया था। इसी शीर्षक से 18 जुलाई, 1920 को 'स्वदेशी' और 21 जुलाई, 1920 को यंग इंडिया में लिखे अपने लेख में उन्होंने कहा- 'मैं जानता हूँ कि कुछ लोग चरखा चलाने की इस कला के पुनरुद्धार की कोशिश पर हंसते हैं। वे कहते हैं कि मिलों, सिलाई मशीनों या टाइपराइटरों के इस युग में कोई पागल ही चरखा जैसे दकियानूसी यंत्र का पुनरुद्धार सफल होने की आशा कर सकता है। लेकिन ये मित्र भूल जाते हैं कि सिलाई मशीन के आ जाने पर भी घर में सुई रखने का चलन उठ नहीं गया है और न ही टाइपराइटर आ जाने से हाथ से लिखने की कला का अंत हो गया है। यदि होटलों के रहते भी लोग घर में खाना बनाकर खा सकते हैं, तो मिलों के साथ-साथ चरखे क्यों नहीं चल सकते?'

इसलिए यह आज भी सच है कि असली खादी का आनंद उसे खुद कातकर पहनने वाले ही जानते हैं। भले ही बाजार की भाषा में आज महंगी खादी का इस्तेमाल 'एक्सपेंसिव टेस्ट' और 'एक्सक्लूसिव आइडेंटिटी' के तौर पर खुद को अलग, श्रेष्ठ और पवित्र दिखाने के लिए भी हो रहा हो। लेकिन ऐसा केवल आज ही नहीं हो रहा है। गांधी के समय भी होता था। और गांधी इससे बेखबर भी नहीं थे। इस पवित्रतावादी और दिखावटी पाखंड पर टिप्पणी करते हुए 4 दिसंबर, 1921 के 'नवजीवन' में उन्होंने कहा—'गेहूँ पवित्र खाद्यान्न है, लेकिन उसे संन्यासी और चोर दोनों ही खाते हैं। इसी तरह पवित्र खादी पाखंडी भी पहनते हैं और पुण्यवान भी। ...यह सच है कि इस संधिकाल में खादी में अन्य अनेक गुणों का आरोपण किया जाता है और पाखंडी लोग खादी पहनकर अपने पाखंड का पोषण करते हैं। लेकिन ऐसा अधिक समय तक नहीं चल सकता।'

इसलिए खादी कातने, उसका प्रचार करने, बेचने और उसे पहनने वाला हर व्यक्ति अपने गांधीपने का दावा करने लगे, तो हमें गांधी के इस बात को याद रखने की जरूरत होगी। इस विचित्र राजनीतिक दौर में खादी की ब्रैंडिंग को गांधी से जोड़ने में कई खतरे भी हैं। आज गांधी के ब्रैंड और तस्वीर का इस्तेमाल रेस्तरां और कलम से लेकर बीयर और चप्पल तक में हो रहा है। और यह केवल आज की

बात नहीं है। गांधी के नाम और ब्रैंड का हास्यास्पद दुरुपयोग उनके जीवित रहते ही शुरू हो गया था।

इसपर एक दिलचस्प वाक्या यह है कि असहयोग आंदोलन के दौरान जब गांधी की लोकप्रियता चरम पर पहुंच गई, तो किसी कंपनी ने महात्मा गांधी छाप सिगरेट ही निकाल दी। यह खबर जब गांधीजी तक पहुंची, तो उन्होंने बहुत ही कठोर भाषा में 12 जनवरी, 1921 को यंग इंडिया में इस पर प्रतिक्रिया व्यक्त करते हुए लिखा- 'मेरे नाम का जितना भी दुरुपयोग किया गया है, उनमें से कोई भी मेरे लिए उतना अपमानजनक नहीं है जितना कि जानबूझकर एक कंपनी का अपनी सिगरेटों के साथ मेरा नाम जोड़ दिया जाना। एक मित्र ने मेरे पास एक लेबल भेजा है, जिस पर मेरी तस्वीर छपी हुई है और सिगरेट का नाम 'महात्मा गांधी सिगरेट' रखा गया है। ...मैंने किसी को अपने नाम को सिगरेट के साथ जोड़ने की अनुमति नहीं दी है। अगर यह अज्ञात सिगरेट कंपनी बाजार में पहुंची सिगरेट पर से यह लेबल हटा ले या अगर जनता ऐसी लेबल वाली सिगरेटें न खरीदे तो मैं आभार मानूंगा।' यह देखना क्या दिलचस्प नहीं होता कि आज के दौर में गांधी के नाम से खादी की ब्रैंडिंग या इस पर की जाने वाली राजनीति पर गांधी क्या कहते?

पिछले दिनों चरखा चलाते गांधी की तस्वीर की जगह डायरी पर किसी अन्य की तस्वीर आ जाने से जो चर्चा छिड़ी है, उसे हमें स्वयं गांधी के नजरिए से समझना होगा। यह एक ऐसा ही मौका है, जब हम भी उन सभी परतों को नए सिरे से उधेड़ें, जिन्हें स्वयं गांधी ने समय-समय पर उधेड़ा था। नई पीढ़ियों के लिए हमें खादी को डिमिस्टिफाइ यानी सरल तरीके से समझाने की जरूरत है, न कि उसे ऐतिहासिक धरोहर की तरह बनाए रखने की। नए विचारों और प्रतीकों के जरिए भी उसमें नई ऊर्जा भरने की जरूरत है। चरखे और खादी को अपनी उपयोगिता नए सिरे से स्वयं साबित करने देने की जरूरत है। एक लंबे दौर में वह ऐसा कर चुकी है और बदले दौर में भी वह ऐसा कर पाएगी इसमें कोई संदेह नहीं है। याद रखें चरखा और खादी गांधी से पहले भी लोकजीवन में राजा और संत दोनों के लिए मौजूद थे, तभी उन्होंने औरंगजेब और कबीर दोनों की याद दिलाई थी। औरंगजेब जो केवल बादशाह थे, और कबीर जो स्वयं गांधी के शब्दों में 'उससे भी बड़े बादशाह' थे।

साभार : <https://satyagrah.scroll.in>

लोकक्षेत्र की संभावनाएं

■ मनोज त्यागी

आजादी के सत्तर सालों बाद भारत ने मोटे तौर पर दो तरह की अर्थव्यवस्थाएं देखीं। 1990 तक चली अर्थव्यवस्था में निर्णायक स्थिति में सार्वजनिक क्षेत्र रहा, हालांकि इसमें निजी क्षेत्र भी शामिल था, लेकिन प्रभावी नहीं था। 1990 के बाद से निजी क्षेत्र हावी हो गया। निजी क्षेत्र की अर्थव्यवस्था देश की बुनियादी समस्याओं यानी गरीबी, बेरोजगारी, विषमता, आर्थिक अन्याय आदि से देश को निजात नहीं दिला सकी और यही निष्कर्ष पिछले 25 साल से चले आ रहे निजी क्षेत्र की अर्थव्यवस्था के बारे में आसानी से निकाला जा सकता है। दोनों तरह की अर्थव्यवस्थाओं ने मिलकर एक काम और किया है, वह है पर्यावरण विनाश का। इसे रोकने का रास्ता भी इन दोनों तरह की व्यवस्थाओं में नहीं है। वैश्विक स्तर पर भी देखें तो साम्यवादी और समाजवादी देशों की व्यवस्थाओं में निर्णायक भूमिका सार्वजनिक क्षेत्र के हाथ में रही और पूंजीवादी देशों में यह भूमिका निजी क्षेत्र ने निभाई।

कुछ छिटपुट अपवाद जरूर रहे। अब सार्वजनिक क्षेत्र वाली साम्यवादी और समाजवादी व्यवस्थाएं तो लगभग टूट चुकी हैं और पूंजीवादी व्यवस्थाएं एक बार फिर महामंदी के किनारे पर खड़ी हैं। विश्व में कहीं भी इन दोनों प्रकार की व्यवस्थाओं में गरीबी, बेरोजगारी और पर्यावरण विनाश की बुनियादी समस्याओं का समाधान नहीं हो सका है और न ही दुनिया शांति की तरफ बढ़ी है। समाजवैज्ञानिक और अर्थशास्त्री नहीं समझ पा रहे हैं कि समाधान कौन सी व्यवस्था में होगा। सार्वजनिक क्षेत्र और निजी क्षेत्र की व्यवस्थाओं में चिप्पीकारी-पच्चीकारी करके वे फौरी समाधान ढूंढ़ रहे हैं। निजी क्षेत्र वाली वाली व्यवस्था काफी चली है और उसके समर्थक अर्थशास्त्रियों ने तो यहां तक कह दिया कि

इस व्यवस्था का कोई विकल्प नहीं है। जब वे कहते हैं कि 'कोई विकल्प' नहीं है तो इसका अर्थ होता है कि अब केवल निजी क्षेत्र वाली व्यवस्था ही चलेगी जिसमें सारी अर्थव्यवस्था निजी कारपोरेट (जिन्होंने अब इतना विशालकाय रूप ग्रहण कर लिया है कि वे देशों से भी बड़ी हो गई हैं) के हाथ में होगी, वे ही निर्णायक भूमिका निभाएंगी, राजनीति उनकी चेरी होगी और राज्य उनके हितों की रक्षा करने वाली और उनकी गतिविधियों को सुसाध्य और सुगम बनाने वाली संस्था होगी। लोकतंत्र तो होगा पर वह निजी क्षेत्र को कुछ भी करने, कुछ भी बोलने, कहीं भी आने-जाने, किसी भी तरह का निर्णय लेने की पूरी स्वतंत्रता देगा। लोकतंत्र में लोक को कुछ समयांतराल पर मात्र वोट देने का अधिकार मात्र होगा, बाकी कुछ नहीं। निजी क्षेत्र के सिरमौर अमेरिका में तो 'कॉरपोरेटो की, कॉरपोरेटो के द्वारा, कॉरपोरेटों के लिए' वाला लोकतंत्र कायम हो गया है।

लेकिन, कहते हैं कि इंसान समस्याओं का निदान खोजने से बाज नहीं आ सकता। उसने एक समाधान खोजा है पिपुल्स सेक्टर यानी लोक क्षेत्र। दुनियाभर में जन समुदाय छोटी-छोटी पहल करके पिपुल्स सेक्टर को खड़ा कर रहे हैं। विशेषज्ञ अपने आलीशान कक्षों में बैठकर और किताबी अध्ययन करके भले ही धरातल पर न देख पाएं पर आम आदमी तो धरातल पर ही रहता है और अपनी समस्याओं को दूर करने की यथार्थवादी कोशिश करता ही है। दुनिया भर में स्थानीय जन समुदाय पहल करके कृषि, उद्योग और सेवा क्षेत्र में पिपुल्स सेक्टर को सफलतापूर्वक लागू कर रहा है। पिछले महीने जर्मनी के ऊर्जा मंत्री राबर्ट हैबक भारत आए तो उन्होंने बताया कि जर्मनी के समुद्र तटीय उत्तरी प्रांत सेल्सबिग होलस्टीन में स्थानीय जन समुदाय ने

अपनी मालिकियत में पवन ऊर्जा पार्क खड़ा किया है। वहां के जन समुदाय के हर व्यक्ति ने 500 यूरो से 10,000 यूरो तक अपना पैसा लगाकर और कुछ मदद राज्य से लेकर यह पार्क विकसित किया है और अपनी जरूरत की पूरी बिजली इस स्रोत से पैदा कर रहे हैं। बची बिजली की बिक्री से जो लाभ होता है वह जनसमुदाय के सदस्यों में बंट जाता है। बड़ी कंपनियां कोयले और परमाणु के बिजलीघर तो चला रही थीं जो प्रदूषणकारी और महंगी थीं, पर पवन बिजली के स्वच्छ स्रोत में पैसा लगाने को तैयार नहीं थीं। तब लोग उठ खड़े हुए और ग्रीन पार्टी के अपने मंत्री की मदद से अपना स्वयं का स्वच्छ बिजली उत्पादन का केंद्र बना डाला।

साम्यवादी सोवियत संघ बिखर गया तो छोटे से क्यूबा पर भयंकर संकट आ गया। क्यूबा का निजी क्षेत्र ठप्प पड़ गया। तो क्यूबा की सरकार ने नया प्रयोग किया। वहां कृषि फार्म और छोटे कारखाने स्थानीय समुदाय को सौंप दिए गए। सब्जी, फल उत्पादन के लिए घरों के पास किचन गार्डन को प्रोत्साहित किया गया। अगले कुछ वर्षों में स्थानीय समुदायों ने मिलकर नई व्यवस्था का निर्माण कर दिया जिसमें पिपुल्स सेक्टर की बड़ी भूमिका है। कनाडा की नोबेल पुरस्कार विजेता ओलीनार आस्ट्रम ने नेपाल, भूटान जैसे कुछ देशों में सामुदायिक आर्थिक गतिविधियों का गहन अध्ययन करके निष्कर्ष निकाला कि जल, जंगल, जमीन और खनिजों जैसे प्राकृतिक संसाधनों का अनुकूलतम और सर्वोत्तम उपयोग तब होता है जब वे समुदाय के पूर्ण नियंत्रण में होते हैं और उनके नियोजन का निर्णय लेने का अधिकार उसी के पास होता है। सार्वजनिक क्षेत्र और निजी क्षेत्र इतने दक्ष और निपुण तरीके से इन संसाधनों का इस्तेमाल नहीं कर पाते और पर्यावरण का भी विनाश कर देते हैं, पर समुदाय इसके उलट कम संसाधनों में ज्यादा उत्पादन, पर्यावरण संरक्षण, रोजगार सृजन, गरीबी उन्मूलन करने में सक्षम होता है।

हमारे देश में ऐसे छोटे-छोटे प्रयोग कई स्थानों पर चल रहे हैं। ऊर्जा उत्पादन, वस्तु उत्पादन, कृषिउत्पादन, तालाब-नहर निर्माण, सड़क पुलिया निर्माण से लेकर स्वच्छता के काम तक में ये प्रयोग फैले हुए हैं। इनमें सार्वजनिक क्षेत्र या निजी क्षेत्र शामिल नहीं हैं। बल्कि ये पूरी तरह लोकक्षेत्र द्वारा संचालित, निर्देशित और क्रियान्वित हैं। केरल के कोट्टायम जिले के एक गांव में ग्राम समुदाय ने पुलिया निर्माण के लिए सरकारी ठेकेदारों, इंजीनियरों और निजी कंपनियों को नहीं आने दिया और स्वयं मिलकर एक तिहाई धन से बहुत कम समय में पुलिया का निर्माण कर दिया। उत्तराखंड के टिहरी जिले के चमियाला में बाल गंगा नदी पर दो मेगावाट का पनबिजलीघर का निर्माण गांव के लोगों की मदद से हो रहा है।

हजारीबाग के करणपुरा क्षेत्र में दो गांवों में ग्राम समुदाय की देखरेख में बीस-बीस किलोवाट के छोटे थर्मल पावर प्लांट लगाए गए हैं, जो गांव की बिजली की जरूरत को पूरा करते हैं। उत्तर पूर्व के राज्यों में भी कई स्थानों पर ऐसे प्रयोग चल रहे हैं। पर ये सब स्थानीय लोगों के धन और श्रम से ही चल रहे हैं। सरकारों का इनमें कोई योगदान नहीं है। मुंबई के डिब्बा वाला, बंगलुरु में अपना सब्जी कारोबार कर रहे किसान, कई सामुदायिक भोजनालय ऐसे ही प्रयोग हैं।

शिक्षा के क्षेत्र में लोक क्षेत्र का एक प्रयोग इलाहाबाद में स्वराज विद्यापीठ के रूप में सामने आया है। असल में लोकक्षेत्र में असीम संभावनाएं हैं। जरूरत है इन प्रयोगों को बड़े स्तर पर प्रोत्साहित करने की। कृषि में उत्पादन, प्रसंस्करण और विपणन स्थानीय किसान समुदाय के हाथ में होगा तो बेरोजगार लाखों नौजवानों को वहां सम्मानजनक रोजगार मिलेगा। शहरों में खाली घूम रहे लाखों नौजवान, जिनके पास व्यावसायिक प्रशिक्षण है और कुछ करने का जज्बा भी, उन्हें निर्माण क्षेत्र और सेवा क्षेत्र में स्वतंत्र रूप से सामूहिक कार्य में लगाया जा सकता है। ग्राम सभाओं को विकास योजनाओं से मुक्त पैसा दिया जाए और उस पैसे को इस्तेमाल करने का अधिकार उनके पास हो तो अस्पताल, प्राइमरी शिक्षा, मिड डे मील, आवास निर्माण, शौचालय निर्माण, सिंचाई योजनाएं, मनरेगा जैसी योजनाएं वे स्वयं बनाकर चला सकते हैं। महाराष्ट्र के अहमदनगर जिले का हिवरे बाजार गांव इस प्रयोग का जीता जागता नमूना है।

देश की सरकारें तो लोक क्षेत्र की तरफ से बिल्कुल उदासीन हैं। ऐसा नहीं है कि नीति निमार्ताओं का ध्यान इस तरफ न जाता हो, पर राजनीतिक दलों, सरकारों और बड़ी कारपोरेट कंपनियों को लोक क्षेत्र से शायद डर लगता है। सहकारी सस्थाएं चलाने का प्रयोग किया गया था, लेकिन वे सरकारी हस्तक्षेप, भ्रष्टाचार और अकर्मण्यता के कारण बेकार हो गईं। सरकारी हस्तक्षेप से मुक्त स्वतंत्र निर्णय लेने का अधिकार रखने वाला और प्राकृतिक संसाधनों पर मालिकियत वाला लोक क्षेत्र राजनीतिक तंत्र और कारपोरेटों के निजी क्षेत्र के आर्थिक आधार ही खत्म कर देगा इसलिए वे डरते हैं। अगर लोक क्षेत्र को नीति के स्तर पर प्रोत्साहन मिले, बैंको से क्रेडिट मिले, तकनीकी और प्रबंध संस्थानों से जानकारियां मिलें तो यह बहुत जल्दी खड़ा हो सकता है और देश की बुनियादी समस्याओं के निपटारे में अहम भूमिका निभा सकता है।

साभार : जनसत्ता

८ मार्च, महिला दिवस पर

निधि गर्ग! फरॉटेदार अंग्रेजी बोलती कारपोरेट जगत में कार्यरत। बहुत से मायनों में आधुनिकता की मिसाल। निधि से मेरा साबका ISABS (Indian Society for Applied Behavioural Science) की कार्यशाला के दौरान हुआ। कार्यशाला में इस लड़की ने तीन दिन बाद चंद पंक्तियां कागज़ में उकेरीं और हमारी लैब में बैठे साथियों के साथ साझा कीं। यह निधि के अवचेतन मन की आवाज़ थी लेकिन यह आवाज़ आधा जगत में बसने वाली उन निधियों की भी है जो कहीं न कहीं तमाम तरह की परछाइयों से घिरीं अपने वजूद की तलाश में हैं। यह तलाश निहायत ज़रूरी है मात्र ज़िंदगी बसर करने के लिए नहीं वरन ज़िंदगी जीने के लिए...

—सुरेंद्र रावत



निधि गर्ग!

कभी बेटी, बहन, बहू या पत्नी
हर रिश्ते को निभाने का मुझे गरूर है
पर कहीं किसी रिश्ते में चूक न हो जाए
क्यों हर वक्त रहता इसका इक खौफ है
यू तो दुनिया के सामने
हर रिश्ते को निभाने का गर्व है
पर कहीं इस जंजाल में फंस गई हूं
छोटे से दिल में इसका भी दर्द है
इस खुले आसमान के नीचे लोगों ने बहुत कुछ सिखलाया
पर कल चार दीवारी में कुछ जाने-अनजाने रिश्तों ने यह अहसास दिलाया
तू तन से ही नहीं मन से भी सुंदर है
फिर क्यों यह चहकती चिड़िया पिंजरे में बंद है
आ थाम ले हाथ हमारा उड़ चल नील गगन में
तुझको भी तो है आज़ादी का अधिकार
सुबह उठी, आइने में खुद को देखा
थोड़ा मुस्कराई, इतराई और खुद पर भी प्यार आया
तो सोचा उन रिश्तों को शुक्रिया कह दूं
पर सिर्फ यह कहना काफ़ी होगा? ऐसा ख्याल आया
तो बस इतना बता दूं दोस्तों, आप सबका आभार प्रगट करने के लिए
कुछ साल पहले मर चुके कवि को आज मैंने फिर से जगाया।

अ सत्य कथाएं

नवाब गिरफ्तार हो गए क्योंकि कोई जूता पहनाने वाला नहीं था

लखनऊ के आखिरी बादशाह वाजिद अली शाह के बारे में सैंकड़ों मनगढ़ंत किस्से अवध से लेकर दुनियाभर में फैले हुए हैं। उनमें से दो किस्से सबसे ज्यादा कहे-सुने जाते हैं। पहला, वाजिद अली शाह अय्याश और नाकारे थे और लखनऊ की जनता उनके राज-काज से खुश नहीं थी। इसीलिए अंग्रेजों ने जनहित में उन्हें गद्दी से हटा दिया। दूसरा अंग्रेज जब नवाब को गिरफ्तार करने आए तो उनके आस-पास के सारे लोग भाग गए, नवाब साहब अकेले रह गए और अंग्रेजों द्वारा गिरफ्तार कर लिए गए। वे भाग सकते थे मगर भाग नहीं सके क्योंकि उनको जूते पहनाने वाला खादिम पहले ही भाग गया था। खुद जूते उठाकर पहनना नवाबी शान के खिलाफ था। सो नवाब साहब ने गिरफ्तारी कबूल की पर खुद के हाथों से जूता पहनना गवारा नहीं किया। लखनऊ के इतिहास की पड़ताल करें तो साफ हो जाता है कि इन कहानियों में जरा भी सच्चाई नहीं है। फिर भी सारों साल से ये मनगढ़ंत किस्से लोगों का मनबहलाव करते आ रहे हैं। इन किस्सों के आधार पर वाजिद अली शाह की शख्सियत पर फैसला सुनाया जाता रहा है। लखनऊआ ज़बान में कहें तो ये किस्से 'कुल लोकल' हैं लेकिन दुर्भाग्य ये है कि इन्होंने एक संवेदनशील, कलाप्रेमी, कवि हृदय शासक की छवि बिगाड़कर रखी दी। लखनऊ की तमीज़-तहजीब, नज़ाकत-नफ़ासत और नाज़-ओ-अंदाज़ का मख़ौल उड़ाने वाले इन किस्सों को रस लेकर सुनते-सुनाते हैं। वाजिद अली शाह के बारे में इस कोरी गप्प के प्रचार-प्रसार में इतिहास न जानने वाले एवं कुछ सांप्रदायिक ज़हन के साथ ही बड़ी भूमिका अंग्रेजों की है जिन्होंने अवध की 'हड़प' को जायज ठहराने के लिए वाजिद अली शाह के खिलाफ इस तरह का प्रोपेगंडा खूब फैलाया।



सत्य तथ्य

“

लखनऊ के चर्चित इतिहासकार अब्दुल हलीम 'शरर' ने अपनी मशहूर किताब गुजिश्ता लखनऊ में वाजिद अली शाह के शासनकाल और जनता में उसकी लोकप्रियता की विस्तार से चर्चा की है। किताब इस बात का सिरे से खंडन करती है कि वाजिद अली शाह अयोग्य शासक थे और लखनऊ की जनता उनसे खुश नहीं थी। प्रो. जीडी भटनागर समेत दूसरे इतिहासकारों ने भी ऐसा ही मत व्यक्त किया है। जोश मलीहाबादी ने भी अपनी आत्मकथा 'यादों की बारात' में अपने बचपन का जिक्र करते हुए कहा है कि उनके बचपन में बड़ी-बूढ़ियां वाजिद अली शाह के साथ अंग्रेजों द्वारा किए गए अन्याय को याद करके रोती थीं। जोश के मुताबिक वाजिद अली शाह आम जनता में कितने लोकप्रिय थे इसका अंदाजा इसी बात से हो सकता है कि उनके लखनऊ से जाने के आधी सदी बाद भी रियाया उन्हें नम आंखों से याद करती थी। इसी तरह जूते पहनने वाला किस्सा भी इतिहास से कतई मेल नहीं खाता। न ही कहीं इतिहास में इस घटना का जिक्र मिलता है। सच ये है कि वाजिद अली शाह को अकेले नहीं बल्कि उनके कई साथियों के साथ हिरासत में लिया गया था और वो एक बड़े कारवां के साथ ही कलकत्ता रवाना हुए थे।

साभार : तहलका

इंस्टीट्यूट फॉर सोशल डेमोक्रेसी

प्लेट नम्बर-110, नम्बरदार हाउस, 62-ए, लक्ष्मी मार्केट, मुनिरका, नई दिल्ली-110067, भारत, टेलीफोन : 091-26177904, टेलीफैक्स : 091-26177904
ई-मेल : notowar.isd@gmail.com / वेबसाइट : www.isd.net.in / www.sach.org.in

केवल सीमित वितरण के लिए

मुद्रण : डिजाइन एण्ड डाइमेंशंस, एल-5 ए, शेख सराय, फेज-II, नई दिल्ली-110017